॥ ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

❀ श्री मङ्गल मूर्त्तये नमः ❀

श्री पातञ्जल योग रसायन



निवेदन

श्री पातञ्जल योग मार्ग जो, है यह श्रुति मत के अनुकूल।
कठवल्ली में लिखा उसे मैं, लिखता हूँ अनुवादित मूल॥

मन के सहित पञ्च ज्ञान इन्द्रिय, सब निश्चल जब रहते हैं।
तज दे क्रिया बुद्धि भी अपनी, उसे परम गति कहते हैं॥

योग मानते हैं उसको जो, इन्द्रिय मन की स्थिर मती।
सावधान तब योगी रहता, जन्म नास युत योग गती॥

प्रणव धनुष है बाण आत्मा, ब्रह्म लक्ष हैं यों कहिये।
सावधान हो वेधन करिये, शरवत् तन्मय हो रहिये॥

यह पातञ्जल योग रसायन, टीका सुगम पसारा है।
सीताराम, वह जन सुख पावे, जिन्हैं योग अति प्यारा है॥

लेखकः—सीताराम

❋ हरि ॐ तत सत ❋

❋ श्री मङ्गल मूर्त्तये नमः ❋

आवश्यक निवेदन

प्रिय पाठक गण !

आज कल भारत वर्ष में अविद्या का साम्राज्य है, यदि विद्या वस्तुतः भारत वर्ष में होती और थोड़े भी जन विद्वान् कहलाने के योग्य होते तब भी यहां से अंधकार उठ जाता, और ज्ञान का प्रकाश होने से, भारतवर्ष की बहु जनता, दीन दुखित, पराधींन, दरिद्री, असत्य वादी, लोभी, व्यभिचारी और अनर्थकारी न होती। आत्म सम्मान और आत्म गौरव का तो राग, सम्पूर्ण पठित समाज के लोग अलाप रहे हैं, परन्तु यह तो कहिये कि "यतो धर्मो ततो जयः" क्या यह शास्त्र वाक्य अप्रमाणिक है ? फिर कहिए कि क्या आप निष्कपट धर्मात्मा स्वालम्बी हैं, यदि नहीं हैं तो क्या आप जी तोड़ कर धर्मात्मा स्वालम्बी होने का यत्न करते हैं ? वस्तुतः यह बात है कि भारत वर्ष को राजयक्ष्मा यानी तपेदिक का सा रोग हो रहा है, जो चिकित्सा की जाती है वेकार पड़ती है। नस नस में इसके रोग विष भरा है, यह त्रीदोष से ग्रस्त है, इसके, कफ, वात, पित्त अथवा सत्व, रज, तम तीनां धातु कुपित हो रहे हैं, इसको कोई कुशल योगी, अच्छा करे तो कर सके। जब तक इसके मन इन्द्रियां और शरीर की एक साथ नित्य निरन्तर दीर्घ काल, चिकित्सा नहीं होगी, तब तक अच्छा होने की आशा दुर्लभ है। सुपथ्य अल्प आहार ग्रहण और कुपथ्य त्याग करने पड़ेंगे, कटु औषधि खानी होगी और चिकित्सकों पर भी विश्वास करना योग्य है।

यदि ऐसा इष्ट हो तो श्री कृष्ण महाराज, पातञ्जल महर्षि जैसे चिकित्सकों पर विश्वास करके सुपथ्य भोग पूर्वक मन इन्द्रियों का निग्रह कीजिये। इसी वास्ते यह श्री पातञ्जल योगदर्शन की सरल हिन्दी भाषानुवाद का आरम्भ किया है। इस पातञ्जल योग दर्शन को लेखक स्वयं पूज्य पाद श्री १०८ स्वामी मङ्गलनाथ जी महाराज से, हृषिकेश में श्रवण किया करता था। श्री महाराज भारत वर्ष के विख्यात् महा योगीश्वर और वेदान्त व्याकरण काव्य इत्यादिक शास्त्रों के भी ज्ञाता अगाध समुद्रवत् थे, ऐसी मेरी धारणा है। मैं, सूत्रों का अर्थ श्रवण करके उनको विचार कर साथ ही साथ गृह पर आकर उन श्रुत अर्थों को विचार कर, लिख भी लिया करता था क्यों कि विस्मृत होने पर भी जानने का अवसर मिले न मिले यह सम्भावना थी। इस लेख में उन्हीं से श्रवण किए हुये सूत्रों का अर्थ है। टीका में, व्यास भाष्य में से, अति उपयोगी चुने हुए वाक्यों का, हिन्दी भाषानुवाद है।

शेष ( ) इस चिन्ह में वा अन्यत्र लिखी हुई व्याख्या, लेखक के स्वअनुभव के अनुसार है त्रुटि रहित तो केवल परमात्मा है, और अवतार धारी भगवान् माने हुए श्री कृष्ण श्री राम आदिकों में भी लोग दोष निकालते हैं, फिर यह अगण्य अमान्य अधम शरीर तो सम्पूर्ण त्रुटियों से पूर्ण क्यों न होगा ? फिर भी यदि सार ग्राही दृष्टि से देखा जावे, तो इस लेख के विचारने से विनोदार्थ पढ़ने से, अथवा उपहास पूर्वक दोष दर्शन से भी पढ़ने वाले पाठक गणों को लाभ ही होगा। सूत्र, थोड़े अक्षरों में महान गम्भीर विस्तृत सिद्धान्तमूलकसारभूत अर्थों का बोधन करते हैं, इस लिये उनका यथावत समझने के लिए सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है, शीघ्र ही तर्क युक्त मति नहीं बना लेनी चाहिये। इसके विभूति पाद में भौतिक विज्ञानी यूरूप वालों के साइन्स विज्ञान शास्त्र के अनुसार उदाहरण देने का नवीन प्रयास किया गया है। मैंने जो कुछ श्रवण किया उसको अनुभव करने की चेष्ठा की उसके अनुसार अभ्यास द्वारा अनुष्ठान भी तब तक करता रहा, जब तक धारणा, प्रयास रहित स्वभाव-भूत न हो गई, इस लिये

यह टीका पाठकों का उन पुरुषों की टीका की अपेक्षा से अवश्य अधिक बोध सम्पन्न करेगी, जिन्होंने केवल व्याकरण के पण्डितों से योग दर्शन पढ़ कर टीका लिखदी हैं और वह बाजार में पढ़ने को मिल जाती हैं। लोगों का पुरातन विद्याओं का अभ्यास छूट जाने से प्रमाद के कारण तथा भ्रमजाल में फंस जाने से संस्कार भ्रष्ट हो जाने के कारण, योग विद्या का नाम सुनते ही यह भावना हो जाती है कि यह विद्या केवल ऐसे महा पुरुषों के लिये है जो कहीं गुहा कन्दरा आदिकों वा हिमाचल, विन्ध्याचल पर्वतों में गुप्त रूप से अभ्यास करते हैं और हम लोगों का इसमें सामर्थ्य कहां हो सकता है। शास्त्र के विचार से ज्ञान होगा कि बड़ी बड़ी सिद्धियों के प्राप्त करने के योग्य साधन चाहें साधारण जनों को दुर्लभ हों परन्तु अपने मन इन्द्रियों के संयम पूर्वक यथावत् आत्म निग्रह में यथावत् यम नियम आसन प्रायाणाम आदिक के साथ वैराग और ईश्वर प्रणिधान के सम्पादन में क्या कठिनाई है ? यदि इतने ही साधन दृढ़ता पूर्वक अनुष्ठान किए जावें, तो उनका फल क्या कम लिखा है ?।

और भी अधिक फल न सही तब भी मानसिक शारीरिक बल सम्पन्न होकर, ईश्वर को प्रसन्न करके, धर्मात्मा होकर, हम अपने आप को और भविष्यत् सन्तान को अविद्या के परिणाम और दुर्गति से तो बचा सकते हैं, यह क्या थोड़ा लाभ है। दंभी योगियों ने स्वयं पथभ्रष्ट होकर जनता को ठगने के लिए बड़े २ अर्थवाद पूर्वक ढौंग रचना रच कर उनका अपकार किया और कर रहे हैं, गुदा की वस्ती क्रिया, नासिका में नेति श्लेष्म हृदय से निकालने को धौति क्रिया इत्यादिक सीख कर ही सिद्ध बन गये द्रव्यापहरण पूजो ग्रहण के साथ जनता को रोगी बना कर अश्रद्धा फैला दी। हमारे लिए त्रिकाल सन्ध्योपासना विधि इसी वास्ते रक्खी गई थी कि हमारा प्राणायाम के सहित ईश्वर प्रणिधान, स्वाभाविक दैनिक क्रियावत होता रहे। यम नियम तो हमारे आर्य पुत्र हाने के कारण हमारे स्वाभाविक धर्म थे, वे बिना प्रयास हमको अपने पूर्वजों की देखा देखी प्राप्त थे, परन्तु समय

के प्रभाव से हम उनसे बहिर्मुख होकर इतने पतित होगये कि अपने स उनका अनुष्ठान होना ही असम्भव हो गया। कौन नहीं जानता है कि असत्य बुरा है, हिंसा निषिद्ध है अधर्म से धन को उपार्जन नकरो चोरी न करो, पर स्त्री मातृ समान है, नारी भगवती स्वरूप है दुर्गा रुप होने से ही उसकी घर घर पूजा होती है। सब जानते हैं परिगृह दुःख रूप है, काम क्रोध लाभ नरक के द्वार हैं ईश्वर उपास्य है, गुरु देवता महान पुरुष विद्वान ब्राह्मण साधु महात्मा माता पिता बहिन बेटियां सब पूजने योग्य हैं तथा धर्म रक्षक राजा भी पूज्य है। इतना जानने पर भी कितने जन ऐसे होंगे जो कटिबद्ध होकर इन धर्मों का अनुष्ठान करते होंगे वा करने का प्रयत्न करते होंगे वा न होने का पश्चाताप करते होंगे ? यदि इतना ही किया जावे तो क्या यह सद्गृहस्थ होते भी इनका अनुष्ठान कर्ता मनुष्य योगी ब्रह्मचारी महात्मा कहलाने के योग्य नहीं हैं और क्या उसके उपदेश का थोड़ा प्रभाव जनता के चरित्र पर पड़ेगा ? उसका उदाहरण जनता में श्री मालवीय जी गांधी जी इत्यादिक हैं जितना इनका योगानुष्ठान है उतना उनका प्रभाव है शेष ऐसे भी बहुत नहीं तो थोडे कहीं २ अवश्य होंगे जो इनका अनुष्ठान करके स्वयम् संतोष का सुख भोग करते होंगे इस लिए योग का घर २ प्रचार होना आवश्यक है॥

॥ इत्योम् ॥

कांधला आपका

ज्येष्ठ सुदी एकादशी सं० १९९१ **सीताराम**

॥ हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ॥

॥ श्री मङ्गल मूर्त्तये नमः ॥

॥ अथ श्री पातञ्जल योग दर्शनम् ॥

❁ प्रथमः समाधि पादः ❁

मूलः—अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अर्थः—अब योग के अर्थात् समाधि के लक्षण, उसके उपाय, उसके अवान्तर भेद और फल के निरूपण करने वाले इस शास्त्र का आरम्भ करते हैं ॥ १ ॥

टीकाः—इस सूत्र में अथ शब्द आदि में होने से मङ्गला चरण के वास्ते है और 'अथ' शब्द का प्रारम्भ करने की सूचना के वास्ते भी प्रयोग होता है, इस लिये यहां भी यही प्रयोजन जान लेना ॥

हिरण्यगर्भ ने जो प्रथम योग का उपदेश किया है उसके अनुसारी, यह संक्षिप्त योग शास्त्र है, यह अनुशासन पद से कहा है. अर्थात् योग शास्त्र का आरम्भ करते हैं यह जान लेना ॥

योग नाम समाधि का है ॥ युजिर धातु से जो संयोग अर्थ निकलता है. सो यहां न समझना ॥

वह समाधि भी सार्वभौम है. अर्थात् सब क्षिप्त मूढादि अवस्थाओं वाले चित्त का धर्म है ॥ समाधि को आत्मा का धर्म न समझ लेना और न उसको योग का अङ्ग ही समझ लेना, किन्तु स्वयं स्वतन्त्र जानना कि वही समाधि योग है ॥ क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध यह पांचों भूमियां यानी चित्त की अवस्थाएं हैं ॥ सदा निरन्तर विजातीय प्रत्यय वाला चित्त, क्षिप्त कहलाता है ॥ निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, प्रमाद, मोह इत्यादिक तामसी दोषों से युक्त चित्त मूढ कहलाता है ॥ (इन दोनों चित्त की अवस्थाओं में तो समाधि का होना ही असंभव है) ॥

कभी थोड़ा सजातीय यानी एकाग्र वृत्तियों वाला और अधिक तो विजातीय प्रत्यय वाला ऐसा जो चञ्चल चित्त है सो विक्षिप्त कहलाता है ॥

निरन्तर एक रस सजातीय वृत्तियों वाला चित्त एकाग्र कहलाता है ॥

सर्व वृत्तियों के अभाव वाला चित्त निरुद्ध कहलाता है ॥ इन पिछली तीन चित्त की अवस्थाओं में से, विक्षिप्त चित्त में विक्षेप अधिक होने से, गौण रूप समाधि, योग पक्ष में गिनी नहीं जासकती है ॥ जो योग एकाग्र चित्त में, यथार्थ शास्त्रीय विषयों को साक्षात्कार कराता है और क्लेशों को अत्यन्त क्षीण करता है कर्म रूप वन्धनों को ढीला करता है, तथा निरोध को अपने सन्मुख करता है, सो संप्रज्ञात योग है ऐसा विद्वान् योगी कहते हैं ॥

वह संप्रज्ञात योग भी वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत इस भेद से आगे जता देंगे ॥ सर्व वृत्तियों के निरोध होने पर असंप्रज्ञात समाधि होती है ॥ १ ॥

तिस द्विविध योग के लक्षण कहने की इच्छा से यह सूत्र प्रवृत्त होता है :—

मूल :—योगश्चित्त वृत्ति निरोधः ॥ २ ॥

अर्थ :—(प्रयत्न विशेष से राजस तामस सम्पूर्ण) चित्त वृत्तियों का निरोध होना, योग है ॥ २ ॥

टीका:—इस सूत्र में चित्त के साथ सर्व शब्द का ग्रहण नहीं है इस लिये संप्रज्ञात भी योग है ऐसा कहते हैं ॥

चित्त, प्रख्या, अर्थात् ज्ञान के सत्वस्वभाव वाला, प्रवृत्ति अर्थात व्यापार रूप रजो भाव वाला और स्थिति अर्थात लय होने से तामस स्वभाव वाला होने से तीन गुणों वाला है ॥

ज्ञान रूप ही चित्त सत्व, रजो गुण, तमो गुण से मिला हुवा, अणिमादि सिद्धि रूप ऐश्वर्य और दिव्य विषय की इच्छा वाला होता है ॥ (इससे विक्षिप्त भूमि कही) ज्ञान वही प्रधान चित्त सत्व, तमोगुण

से दवा हुआ अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य युक्त होता है। (यह मूढ क्षिप्त भूमि कही)॥

वही चित्त सत्व, मोह रूप आवरण यानी तमोगुण के अत्यन्त क्षय वाला, सर्व ओर से प्रकाशित हुवा, थोड़े रजोगुण के लेश से व्याप्त हुवा, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यगामी होता है॥

वह ही सत्व प्रधान चित्त रजोगुण के लेश रूप मल से रहित अपने चित्त स्वरूप में स्थित (अर्थात वृत्ति परिणाम से रहित) बुद्धि और पुरुष के विवेक-ख्याति स्वरूप धर्म-मेघ ध्यान से युक्त होता है॥ (धर्म-मेघ, निरन्तर आत्मा तथा अनात्मा के विवेक वाली अवस्था है वहीं निरोध और उसके संस्कारों का प्रवाह है)॥ वह निरन्तर प्रत्यय की आवृत्ति, पर-प्रसंख्यान है ऐसा ध्यानी योगी कहते हैं॥

चिति शक्ति अपरिणामी यानी कूटस्थ है, किसी में प्रवेश करके संचार नहीं करती है, यानी निर्लेप है ऐसी अप्रतिसंक्रमा है, आप नहीं देखती है परन्तु बुद्धि ने इन्द्रिय द्वारा जिसको विषय दिखाये हैं ऐसी दर्शित-विषया है, शुद्ध है यानी किसी अन्य से मिल कर अशुद्ध नहीं है और अनन्त है अर्थात देश काल के परिच्छेद से रहित है॥

(पूर्वोक्त कथन से ज्ञात हुआ कि यही चिति शक्ति उपनिषदों में ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, पुरुष इत्यादि नामों से विख्यात है क्यों कि ब्रह्म का लक्षण श्रुति ने सत्य ज्ञान अनन्त लिखा है। सोई चिति शक्ति है)॥

और यह विवेक-ख्याति अर्थात विवेक ज्ञान रूप चित्तवृत्ति सत्व गुण वाली है चिति से विपरीत है।

इस वास्ते उस विवेक-ख्याति से विरक्त चित्त उस ख्याति को भी निरुद्ध करता है॥

सो निरोधावस्थ चित्त संस्कार मात्र शेष होता है। वह निर्बीज समाधि है॥

इस अवस्था में वृत्ति से कुछ विषय नहीं किया जाता इस लिये असंप्रज्ञात है॥

वह चित्त की वृत्तियों का निरोध रूप योग दो प्रकार का है सो कहा, संस्कार मात्र शेष इस अवस्था वाले चित्त में विषय का अभाव होने से बुद्धि का प्रकाश रूप पुरुप किंस्वभाव अर्थात निःस्वरूप होगा इस विज्ञानवाद की शंका का निपेध करते हैं:—

अव योग के सिद्धान्त के अनुसार निरोध काल में आत्मा के स्वरूप को और केवल्य मुक्ति रूप प्रयोजन को कहते हैं, अन्यथा अनर्थ की प्राप्ति रूप संसार ही होगा ॥

मूलः—तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

अर्थः—तदा=तव निरोध काल में द्रष्टुः=द्रष्टा की ॥ स्वरूपे अवस्थानम्=स्वरूप में स्थिति होती है ॥ (इससे कैवल्य मुक्ति रूप योग का प्रयोजन कहा) ॥

टीकाः—तव निरोध काल में चिति शक्ति स्वरूप में स्थित होती है जिस प्रकार कि कैवल्य में होती है अर्थात समाधि और कैवल्य एक ही वस्तु है ॥ ३ ॥

चित्त के व्युत्थान होने पर तो चिति शक्ति यद्यपि स्वरूप में स्थित ही है तो भी जैसे कैवल्य है वैसे नहीं है ॥ तव कैसे होती है ? बुद्धि द्वारा द्रष्टा को विषय दिखाये जाने से (द्रष्टा रूप) चिति शक्ति बुद्धि की वृत्तियों के समानाकार होती हैं ॥ सोई कहते हैं ॥

मूलः—वृत्ति सारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

अर्थः—इतरत्र=स्वरूपावस्थान से अन्यत्र व्युत्थान काल में (द्रष्टा की) वृत्तिसारूप्यं=वृत्ति के साथ समानाकारता होती है (अर्थात भोग संस्कार होता है) ॥

टीकाः—व्युत्थान काल में जो चित्त की वृत्तियां हैं, पुरुष उन वृत्तियां के समानाकार होता है, तव अपनी असंगता, अनन्तता, अविकारता और शुद्धता को न जानता हुवा अपने आप को कर्त्ता भोक्ता संसारी दुखी सुखी मानता है, (इसी को वेदान्त में श्रुति कहती है " स समानः सन् ध्यायतीव लेलायतीव " अर्थात् वह आत्मा बुद्धि के समान होकर यानी बुद्धि के साथ तादात्म्याध्यास को प्राप्त होकर

माना ध्यान करता है मानो चलता है। यह वृहदारण्यक उपनिषद की श्रुति है)॥

इसी बात को पञ्च शिखाचार्य ने कहा है कि :—

अध्यास काल में एक ही ज्ञान होता है अर्थात् द्रष्टा और बुद्धि का मिला हुवा ही ज्ञान भान होता हैं, जैसे कि 'मैं घर को नहीं जानता हूं' यहां पुरुष का और बुद्धि का मिला हुवा एक ही ज्ञान भान हो रहा है ऐसे ही अन्यत्र जान लेना।

चित्त, चुम्भक के सदृश, सन्निधि मात्र से पुरुष स्वामी का उपकारी है; दृश्य होने से, पुरुष, स्वामी का स्वं होता है॥ तिस कारण से पुरुष के चित्त वृत्ति को प्रकाशने में अनादि स्वं स्वामी सम्वन्ध हेतु है। वे वृत्तियां पुनः निरोध करने योग्य हैं॥ ४॥ चित्तों के बहुत होने से,

मूलः—वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा क्लिष्टाः॥ ५॥

अर्थः—क्लिष्टाः अक्लिष्टा,=क्लिष्ट अक्लिष्ट भेद से॥ वृत्तयः पंचतय्यः= चित्तों की वृतियां पांच अवयवों वाली हैं॥ (प्रति पुरुष एक चित्त है, एक ही वृत्ति है सो पांच अवयवों वाली है, बहुत चित्त होने से बहुवचन कहा है)

टीकाः—क्लेश हैं हेतु जिनके अर्थात् अविद्यादि पञ्च क्लेश मूलक वृत्तियां जो कर्म राशी की वृद्धि में क्षेत्र रूप हैं सो क्लिष्ट वृत्तियां हैं॥ विवेक ख्याति विषय वाली गुणाधिकार की विरोधी अर्थात् पुनः प्रकृति महदादि संसार की विरोधी वृत्तियां अक्लिष्ट वृत्तियां हैं।

क्लिष्ट प्रवाह में पतित हुई भी यानी मध्य में आई हुई भी अक्लिष्ट वृत्तियां क्लिष्ट ही होती हैं। अक्लिष्ट प्रवाह में पतित अक्लिष्टों के छिद्रों में यानी अन्तराय अर्थात् अवकाश में होने वाली क्लिष्ट वृत्तियां क्लिष्ट ही होती हैं॥ (तात्पर्य्य यह है कि मोह या रागाकार क्लिष्ट प्रवाह के वीच में जो दया के वेष को धारण करने वाली अक्लिष्ट वृत्ति है वह दया नहीं है किन्तु मोह ही है क्लिष्ट ही है॥ वैरागादि अक्लिष्ट प्रवाह में आई हुई रागाकार क्लिष्ट वृत्ति क्लिष्ट ही हैं)॥

वैसी जाती वाले संस्कार, वृत्तियों से ही उत्पन्न होते हैं और

संस्कारों से वृत्तियां होती हैं ॥ इस प्रकार वृत्ति संस्कार का चक्र निरन्तर चलता है ॥ सो इस प्रकार का चित्त समाप्ताधिकार वाला हो अर्थात् भोग मोक्ष के कार्य से विनिर्मुक्त हो चुका हो तो आत्मा के सदृश स्थित होता है अथवा निरोध के आकार प्रकृति की ओर उलटे परिणाम को प्राप्त होता है ॥ (वशिष्ठ जी के मतानुसार वृत्ति रहित चित्त, अचित हुवा, अपने कारण अधिष्टान्त रूप आत्मा में बाधित शान्त हो जाता है यानी आत्मा ही होता है ॥ (चित चिति शक्ती है, वुद्धि प्रकृति के तकार के मिलने से चित्त रूपी दृष्य वन जाती है ऐसे ही बुद्ध के साथ प्रकृति "इ" रूप लगने से वुद्धि हो जाती हैं, प्रकृति कल्पित है, अधिष्टान में लीन यानी वाधित होने से या मिथ्या निश्चय होने से प्रकृति और उसके कार्य का अभाव है शेष आत्मा ही है वस्तुतः हुआ कुछ नहीं सब अजात ही था है और रहेगा ॥)

वे क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से पंचधा यानी पांच पांच प्रकार की आकार वाली वृत्तियां हैं अर्थात प्रमाणादि पांच अवयवों वाली वृत्तियां हैं और फिर उनमें से एक एक के क्लिष्ट अक्लिष्ट भेद है पांच प्रकार के क्लेश होने से अविद्या आदिक पांच प्रकार की क्लिष्ट वृत्तियां हैं जिनका आगे निरूपण करेंगे ॥ ५ ॥

मूलः—प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृतयः ॥ ६ ॥

अर्थः—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति यह पांच वृत्ति के अवयव हैं ॥ ६ ॥

मूलः—तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

अर्थः—तत्र=तिन पञ्च अवयवों में से ॥ प्रत्यक्षानुमानागमाः= प्रत्यक्ष अनुमान और आगम यह तीनों ॥ प्रमाणानि = प्रमाण रूप अवयव हैं ॥

इन्द्रिय रूपी नाली द्वारा चित्त के वाह्य शब्दादिक का विषय के साथ स्पर्श या लेपन होने से, वाह्य वस्तु को विषय करने वाली सामान्य विशेष स्वरूप वाले अर्थ के विशेष निश्चय की प्रधानता वाली ऐसी जो वृति है सो प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती है ॥

पुरुष का चित्त की वृत्ति के साथ, एक रस मिला हुवा यानी दोनों के परस्पर के मिश्रित हुए एकत्व भाव से प्राप्त हुआ जो वोध है सो फल यानी प्रमा है ॥

वुद्धि के समानाकार भासता हुआ वुद्धि का ज्ञाता पुरुष (प्रमाता) है, यह आगे कथन करेंगे ॥

अनुमेय, यानी जिसका अनुमान किया जाये, ऐसा जो साध्य विषय है उसका सपक्षों में व्यापकता रूप और विपक्षों अर्थात विजाती पक्षों से प्रथकता स्वरूप ऐसा जो सम्वन्ध है, उसको विषय करने वाली, सामान्य निश्चय प्रधान वृत्ति अनुमान है ॥ जैसे कि चन्द्र तारागण गतिमान हैं देशान्तर प्राप्ति होने से चैत्र की नाईं। यह तो गतिरूप अनुमेय की सपक्ष चैत्र में अनुवृत्ति है और विन्ध्याचल पर्वत का देशान्तर को प्राप्त न होना, अगति है, यह साध्य की विपक्ष पर्वत से व्यावृत्ति है ऐसे यों अनुमान दिखाया ॥

भ्रम प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणा-पाटव, इन दोषों से रहित, आप्त पुरुष का देखा हुआ वा अनुमान किया हुआ अर्थ दूसरे पुरुष में अपने समान वोध की उत्पत्ति के वास्ते शब्द द्वारा उपदेश किया जाता है ॥ शब्द से उपदिष्ट अर्थ को विषय करने वाली श्रोता की वृत्ति आगम प्रमाण है ॥ जिस आगम का विश्वास के अयोग्य वक्ता हो दृष्ट अनुमित अर्थ वाला न हो वह आगम बाधित होता है (यानी अप्रमाणिक है) मूल वक्ता दृष्ट अनुमेय अर्थ वाला होवे तो उसका आगम अबाधित यानी प्रमाणीक होता है ॥ (वेदान्त मत में सब प्रमाता प्रमाण प्रमेय व्यवहार अध्यस्त होने से अधिष्ठान में मिथ्या कल्पित यानी बाधित है वस्तुतः सब आत्मा है) ॥ ७ ॥

मूलः—विपर्ययो मिथ्या ज्ञान मतद्रूप प्रतिष्ठम् ॥८॥

अर्थः—मिथ्या ज्ञानं विपर्ययः=मिथ्या ज्ञान विपर्यय है ॥ अतद् रूप प्रतिष्ठम=जो वस्तु के स्वरूप में यथावत् स्थित नहीं होता है (विपर्यय भ्रम रूप उल्टा असद् भान है, जैसे रज्जू में सर्प का भ्रम वा मरू भूमि में मृग तृष्णा के जल का भासना मिथ्या ज्ञान

है वह विपर्यय है तद्वत् अन्यत्र जान लेना)॥

टीका:—वह विपर्यय किस लिये प्रमाण नहीं है, क्यों कि प्रमाण से वाधित हो जाता है, प्रमाण अबाधित (सत्य) अर्थ को विषय करता है, वहां अप्रमाण का प्रमाण से वाध होना देखा है इसमें यह दृष्टान्त है कि जैसे द्विचन्द्र दर्शन यथावत् सत्य एक चन्द्र दर्शन से वाधित हो जाता है यानी मिथ्या जान लिया जाता है, वह विपर्यय था, ऐसे ही अन्यत्र जान लेना ॥ वह विपर्यय यानी मिथ्या ज्ञान, यह पांच गांठों वाली अविद्या रूप है (यानी पांच प्रकार की अविद्या है) यही अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष अभिनिवेश पांच क्लेश हैं ॥ यही अपनी तान्तरिक मोह, महा मोह, तामिस्त्र अन्ध-तामिस्त्र नाम वाले हैं, इनको चित्त मल के प्रसंग में कहेंगे ॥ (वेदान्त मत में आत्मा ही एक सत्य अद्वैत अनन्त व्यापक अखण्ड सत् चित् आनन्द रूप है उससे इतर सब कल्पना मात्र अनात्मा असत् विपर्यय रूप हैं अथवा विकल्प मात्र है)।

मूल:—शब्द ज्ञानानुपाती वस्तु शून्यो विकल्पः ॥ ६ ॥

अर्थ:—शब्द ज्ञान के पीछे होने वाली निर्विषय वृत्ति विशेष विकल्प है ॥ ६ ॥

निर्विषयता में तो विपर्यय और विकल्प की तुल्यता है परन्तु भेद इतना है कि विपर्यय में तो व्यवहार का लोप करने वाला बाध होता हैं और विकल्प में व्यवहार का लोप न होकर बाध होता हैं (यह श्रुति प्रमाण है) "विकल्पो नहि वस्तु" "नेह नानास्ति किंचन" ॥

मूल:—अभाव प्रत्यालम्बनी वृत्ति निद्रा ॥ १० ॥

अर्थ:—सर्व ज्ञानाभाव के कारण अभाव ज्ञान रूप तम को विषय करने वाली वृत्ति निद्रा हैं ॥ (जिस मत में ज्ञानाभाव निद्रा का लक्षण है उसके निराकरण के वास्ते वृत्ति शब्द कहा)॥

टीका:—वह निद्रा भी जागने पर उसका स्मरण चिन्तन होने से वृति विशेष है॥ वृत्ति विशेष और अवमर्श कैसे होता है इस

का उत्तर कहते हैं।

मन के सत्व में लीन हुए, मैं सुख से सोया मेरा मन प्रसन्न है मेरी प्रज्ञा स्वच्छ हुई है (यह जाग कर स्मरण होता है) ॥ रजो में लीन हुए मैं दुःख से सोया मेरा मन क्रिया के अयोग्य है ॥ भ्रमता है स्थित नहीं है ॥

तमो में लीन होने पर मैं अत्यन्त मूढ होकर सोया मेरे गात्र भारी हैं, मेरा चित्त ग्लानि युक्त है, आलसी है मानों चोरी गया ऐसे स्थित है ॥

निश्चय करके जागे हुए का यदि यह परामर्श न हो तो प्रत्यय के अनुभव के न होने से उस प्रत्यय के अनुभव के आश्रित उसको विषय करने वाली स्मृतियां भी न होंगी तिस कारण निद्राप्रत्यय विशेष है और वह भी समाधि में, इतर प्रत्ययों की न्याईं, निरोध करने योग्य है ॥ १० ॥

मूलः—अनुभूत विषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

अर्थः—अनुभूत विषय का अनुसंधान (यानी बिना घटाए वढ़ाए चुराए जैसे का तैसा चिन्तन करना) स्मृति है ॥

टीकाः—क्या चित्त, प्रत्यय ज्ञान को स्मरण करता है अथवा विषय को ? विषय के समानाकार ज्ञान, विषय और ज्ञान उभयाकार से भान होता है और वैसे ही उभायात्मक संस्कार को आरम्भ करता है ॥

वह संस्कार अनुभव के सदृश हुआ तदाकारता को ही अर्थात विषय और ज्ञान उभयात्मक स्मृति को ही उत्पन्न करता है तहां अनुभव और स्मृति दोनों में ज्ञानाकार पूर्वक तो बुद्धि यानी अनुभव होवे है और ज्ञेयाकार पूर्वक स्मृति होती है।

वह स्मृति दो प्रकार की होती हैं कल्पित विषय वाली और यथार्थ विषय वाली ॥ स्वप्न में कल्पित विषय वाली और जाग्रत में यथार्थ विषय वाली स्मृति होती है। सर्व स्मृतियां प्रमाण विपर्यय विकल्प, निद्रा और स्मृतियों के अनुभव से होती है ॥

यह सब वृत्तियां भी सुख दुःख मोहात्मक हैं अर्थात् सतो, रजो तमो, रूप हैं।। सुख दुःख मोह का क्लेशों में व्याख्यान करेंगे ।।

सुख के अनुसारी राग है, दुःख के अनुसारी द्वेष है मोह पुनः अविद्या रूप हैं यह सब वृत्तियां निरोध करने योग्य हैं ।।

इन रज तम के निरोध से संप्रज्ञात और रज तम सत्व के निरोध से असंप्रज्ञात समाधी होती है ।। ११ ।।

अब वृत्तियों के लक्षण के कथन के पीछे इन वृत्तियों के विरोध में क्या उपाय है । सो कहते हैं ।।

मूलः—अभ्यास वैरागाभ्यां तन्निरोधः ।।१२।।

अर्थः—अभ्यास वैरागाभ्यां=मिले हुये अभ्यास वैराग से, । तत निरोधः=वृत्ति का निरोध होता है ।। १२ ।।

टीकाः—चित्त रूप नदी प्रसिद्ध दोनों ओर वहती है कल्याण की ओर वहती है और पाप रूप अनिष्ट की ओर वहती है । जो चित्त नदी कैवल्य उद्देश वाली है, आत्मा अनात्मा के विवेक रूप विषय की ओर झुकी हुई है सो कल्याण को प्राप्त करने वाली है और जो संसार अर्थात् पुनर्जन्म रूप उद्देश वाली है अविवेक रूप विषय की ओर झुकी हुई है वह अनिष्ट को प्राप्त करने वाली है ।।

दोनों वैराग और अभ्यास के मध्य, वैराग से, विपय वाला स्रोत वन्द किया जाता है तथा प्रकृति पुरुष के विवेक दर्शन अभ्यास से विवेक रूप स्रोत खोला जाता है । इस प्रकार वैराग और अभ्यास दोनों के आधीन चित्त वृत्ति का निरोध है ॥ (इस लिये ही अभ्यास वैराग़ाभ्यां यह समास है) ।। १२ ।।

मूलः—तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।। १३ ।।

अर्थ :—तत्र=दोनों वैराग अभ्यास में से, स्थितौ यत्नः=जो चित्तकी स्थितिके वास्ते यत्न है ।। अभ्यास=सो अभ्यास है ।। १३ ।।

टीका :—वृत्ति शून्य चित्त की (प्रत्यक परिणाम अर्थात् स्वकारण में लय की ओर) प्रशान्त वाही स्थिति होती है ।। चित्त की प्रशान्त वाही

स्थिति के लिए प्रयत्न और दृढ़ तत्परता उत्साह है॥ स्थिति के सम्पादन की इच्छा से उन साधनों का अनुष्ठान अभ्यास कहलाता है॥

मूल:-स तु दीर्घ काल नैरन्तर्य सत्कार सेवितो दृढ भूमिः ॥ १४ ॥

अर्थ :—वह अभ्यास तो दीर्घ काल, निरन्तर सत्कार पूर्वक सेवन किया हुआ, दृढ़ स्थिति वाला यानी पक्का होता है॥

टीका :—दीर्घ काल यानी जीवन पर्यन्त पूर्णतया सेवन किया हुआ, निरन्तर लगातार सेवन किया हुआ, तप से ब्रह्मचर्य से विद्या से और श्रद्धा से सत्कार पूर्वक सम्पादित हुआ दृढ़ अवस्था वाला होता है, व्युत्थान संस्कार से शीघ्र दवता नहीं है प्रत्युत व्युत्थान संस्कार को दवाता है॥ १४॥

मूल:-दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य, वशीकार संज्ञा वैराग्यं ॥ १५ ॥

अर्थ:—दृष्ट जों इस लोक के विषय और सुने यानी वेद से ज्ञात जो स्वर्ग के भोग अथवा अणिमादि जो विषय हैं, इन्हों से तृष्णा रहित चित्त कों वशीकार संज्ञा वैराग होता है॥

टीका:—स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्य इन दृष्ट विषयों में तृष्णा रहित को और स्वर्ग प्राप्ति, विदेहता, सिद्धि लाभादि प्रकृति में लीन होना शास्त्र से सुने हुए विषयों में, तृष्णा रहित चित्त को (यानी दिव्य-दिव्य विषयों के संयोग होने पर भी तृष्णा रहित विषय में दोषदर्शी चित्त को) विषयों के दोषों की गिणती रूप प्रसंख्यान के बल से विषयों में भोग से रहित, द्वेष राग से शून्य चित्त को, वशीकार नाम वाला वैराग होता है॥ १५॥

मूल:—तत्परम् पुरुष ख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम् ॥१६॥

अर्थ:—तत् परम्=वह पर वैराग है।

पुरुष ख्याते: गुणवैतृष्ण्यम्=जो पुरुष के साक्षात्कार से गुणों में (यानी प्रधान प्रकृति को वश करना इत्यादिक अणिमा आदिक

सिद्धियों में भी) तृष्णा से रहित होना है ॥ १६ ॥

देखे हुए यानी इस लोक के और सुने हुए यानी परलोक के, विषयों में, दोषदर्शी विरक्त की पुरुष के दर्शन के अभ्यास से उस आत्म दर्शन की शुद्धि रूप प्रविवेक से सिंचित हुई बुद्धि व्यक्ता व्यक्त धर्म वाले गुणों से (यानी ऐश्वर्य से) विरक्त होती है ॥

सो दो प्रकार का वैराग्य है ॥ (यानी वशीकार और पर वैराग) उन दोनों में से, जो पिछला है वह ज्ञान की शुद्धि विशेष है जिसके उदय होने पर विवेक ख्याति के उदय वाला ऐसा मानता है कि पाने योग्य मोक्ष फल पाया, क्षीण करने योग्य क्लेश क्षीण हो गये, जन्म मरण ग्रन्थियां मिली हुई हैं जिसकी ऐसा जो संसार प्रवेश सो छिन्न हो गया, जिसके न छिन्न होने से, जन्म लेकर मरता है और मर कर फिर जन्म लेता है ॥ ज्ञान की परम अवधि पर वैराग है क्यों कि उसके अविना भाव (यानी उससे अभिन्न) कैवल्य पद है ॥ १६ ॥

मूल :— बितर्क बिचारानन्दास्मितारूपा नुगमात् संप्रज्ञातः १७

अर्थ :— वितर्क, विचार, आनन्द, और अस्मिता इन चारों रूपों में व्याप्त होने से, संप्रज्ञात समाधि चार पकार की है ॥ १७ ॥

मूलः— विराम प्रत्याभ्यास पूर्वः संस्कार शेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

अर्थ :— अन्यः=संप्रज्ञत से अन्य असंप्रज्ञात योग। संस्कार शेषः =(आत्माकार प्रत्यय के) संस्कार मात्र है।

विराम पत्ययभ्यास पूर्वः=निरोध का कारण जो अभ्यास है उससे यानी परवैराग से होता है ॥ १८ ॥ सो यह असंप्रज्ञात रूप निर्बीज समाधी दो प्रकार है सो कहते हैं :—

मूलः— भव प्रत्ययो बिदेह प्रकृति लयानाम् ॥ १९ ॥

अर्थ :- भव प्रत्ययः= अविद्या मूलक असंप्रज्ञात समाधी ॥ विदेह प्रकृति लयानाम=६ कोश वाले जो देव शरीर हैं और प्रकृति में लीन होने वाले जो योगी हैं उन्हों की होती है ॥

मूलः—श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम् । २०

अर्थः-इतरेषां=भव प्रत्यय वालों से भिन्न, उपाय प्रत्यय वालों को ॥ श्रद्धा वीर्य, स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वकः=श्रद्धा, उत्साह, साधनो की स्मृति, समाधि और प्रज्ञा (स्फुटालोकः यानो अपरोक्ष ज्ञान) रूप उपाय हैं पूर्व जिसके, ऐसी, असंज्ञात समाधी होती है ॥ २० ॥

यह लौकिक उपाय कहे :—

टीका :-चित्त की अभिरुचि श्रद्धा है ॥ वह श्रद्धा भी माता की न्याईं कल्याण कारी होकर योगी की रक्षा करती है ॥ उस श्रद्धा वान विवेकार्थी के वीर्य यानी उत्साह उपजता है ॥ जिसके सम्यक उत्साह उत्पन्न हुवा है, उस पुरुष के स्मृति दृढ़ स्थित रहती है । स्मृति के दृढ़ होने पर चित्त निश्चल होकर समाधिस्थ यानी एकाग्र हो जाता है ॥ समाहित चित्त वाले पुरुष के शुद्ध बुद्धि में, विवेक की आवृत्ति होती रहतो है जिस से वह योगी यथाभूत वस्तु को जानता है ॥ उसके अभ्यास से और विषयों में वैराग से असंप्रज्ञात समाधि होती है ॥ २० ॥

मूलः—तीव्र संवेगानामासन्नः २१

तीव्र संवेगानाम= तीव्र वैराग वालों को

आसन्नः=थोड़े काल में ही शीघ्र समाधि लाभ होता है ॥ २१ ॥

मूलः—मृदु मध्याधि मात्रत्वात्ततोपि विशेषः ॥२२॥

अर्थः—मृदु मध्याधि मात्रत्वात्=तीव्र वैराग को, मृदु, मध्य और अधिमात्रा (तथा मिले हुये मृदु, मृदु, मृदु मध्य इत्यादि ६ प्रकार से) होने से अधिमात्र—अधिमात्र—तीव्र संवेग, उपाय वालों को—ततः अपि= आसन्न समाधि लाभ से भी, विशेष=आसन्न तम (यानी अत्यन्त शीघ्र) समाधि लाभ होता है ॥२२॥

अब समाधि लाभ में अलौकिक उपाय को कहते हैं;:—

मूलः—ईश्वर प्रणिधानाद्वा ॥२३॥

अर्थः—वा ईश्वर प्रणिधानात्= अथवा ईश्वर में वाचक कायक, मानसिक भक्ति विशेष से, आसन्न तम समाधि लाभ होता है ।

(श्री भगवान् ने गीता में कहा हैः—मेरे स्वरूप में मन वाला

हो, मेरा भक्त उपासक हो, मेरा पूजन यज्ञ करने वाला हो, मुझे नमस्कार कर (अर्थात् सब को मेरा आत्म स्वरुप समझ कर नमस्कार कर) मेरे परायण इस प्रकार अपने आत्मा को मुझमें समाहित करके, मुझको ही प्राप्त होगा ॥ प्रणव द्वारा ईश्वर का जप वाचक प्रणिधान है वा गुणानुवाद करना वा स्तोत्र पाठ करना वा सत्य हित मित भाषण करना वाचक पणिधान है । ईश्वरार्थ ही शरीर की सब चेष्टा करता हूं । ऐसा समझ कर कर्मों को ईश्वरार्पण करते रहना तथा विहित चेष्टा करना पूर्तिषिध वा सकाम क्रिया न करना, यह कायक पूणिधान है। और मन से सब वासुदेव रूप सत्ता स्फूर्त्ति मात्र सर्वात्मा निर्द्वैत अद्वैत अखण्ड चिन्तन करते रहना मानसिक प्रणिधान है अथवा मौन, आत्म निग्रह, भाव की शुद्धि इत्यादिक मानसी तप पूर्वक ईश्वर का ध्यान मानसिक प्रणिधान है ॥ २३ ॥

प्रधान और पुरुष से अतिरिक्त ईश्वर कौन है इस शङ्का का यह समाधान है:—

मूल:–क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः॥

अर्थ:—क्लेश, कर्म, विपाक, आशयैः = अविद्यादिक क्लेश, शुभाशुभ कर्म, कर्मों के सुख दुःख फल और संस्कार इन सबसे।

अपरामृष्टः=असंवद्ध यानी इनके सम्बन्ध वा स्पर्श से रहित (वद्ध मुक्त और प्रकृति लीन योगियों से भिन्न)। पुरुष विशेषः ईश्वरः =जो पुरुष विशेष है सो ईश्वर है ॥

टीका:—जो इस अत्यन्त सत्व उपादान प्रकृति से यह ईश्वर का सदा का उत्कर्ष है, वह किसी निमित्त को लेकर है वा विना निमित्त के है इस शङ्का का उत्तर कहते हैं कि वह ईश्वर रूप पुरुष विशेष का उत्कर्ष शास्त्र निमित्त को लेकर है और शास्त्र किस निमित्त से कहता है सो इसका यह उत्तर है कि अत्यन्त सत्वगुण निमित्त को लेकर कहता है कि जिसका तीनां गुणों की साम्य अवस्था रूप विशेषता से विनिर्मुक्त ऐश्वर्य है, वह ईश्वर है वह ही पुरुष विशेष है, इसी

वार्ता को कहते हैं:—

मूल:—तत्रनिरतिशयं सर्वज्ञ बीजम् ।। २५ ।।

अर्थ:—तत्र=उस ईश्वर में।। निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्=निरतिशय (अर्थात् अत्यन्त) सर्वज्ञ होना बीज है अर्थात् मूल साधक निमित्त है, यानी सर्वज्ञता, निरतिशय होने से, ईश्वर का साधक है।

टीका:—जिसमें ज्ञान की पूर्ण अवधि की प्राप्ति होती है वह सर्वज्ञ है और वह पुरुष विशेष है।। उसको अपने लिये अनुग्रह की इच्छा की आवश्यकता नहीं भी है परन्तु प्राणियों पर दया की आवश्यकता है कि ज्ञान और धर्म के उपदेश से, कल्प, प्रलय, और महा प्रलय में संसारी पुरुषों का मैं उद्धार करूंगा ।। २५ ।।

मूल:—सएष पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात् ।।२६।।

अर्थ:—सएष पूर्वेषां अपि गुरू:=वह यह ईश्वर, हिरण्यगर्भादिकों का भी (यानी जो सर्व से प्रथम सृष्टि करता लोकपालादिक हुए हैं उनका भी) गुरु है, (इसमें हेतु कहते हैं:—)

कालेन अनवच्छेदात्=काल से उसका अन्त न होने से अर्थात् सर्व काल में नित्य एक रस रहने से ।। २६ ।।

मूल:—तस्य बाचकः प्रणवः ।।२७।।

अर्थ:—उस ईश्वर का, वाचक प्रणव है।। २७।।

मूल:—तज्जपस्तदर्थ भावनम् ।। २८ ।।

अर्थ:—विज्ञात है वाच्य ईश्वर और वाचक प्रणव जिस योगी को उसे कर्तव्य है—तज्जप:=उस प्रणव का जप (वाचक प्रणिधान), तदर्थ भावनं=प्रणव के अर्थ ईश्वर की मन से भावना यानी उसका ध्यान चिन्तन करना (मानस प्रणिधान) (और तीसरा ईश्वरार्थ कर्म जो कायक प्रणिधान) इनसे चित्त एकाग्र हो जावेगा ।।२८।।

टीका:—प्रणव का जप और प्रणव के वाच्य ईश्वर का चिन्तन कर्तव्य है। इस योगी के उस प्रणव का जप करते हुए और अर्थकी भावना करते हुए चित्त एकाग्र होता है। इसी बात को आचार्य ने कहा है: —

योग शास्त्र के स्वाध्याय से योगका अभ्यास करे और योगाभ्यास करके, पीछे फिर स्वाध्याय करे, स्वाध्याय और योग की सम्पति से यानी दृढ अभ्यास से, परमात्मा का साक्षात्कार होता है॥ (केवल नाम रटन करने से, लाभ अवश्य हैं परन्तु अर्थ चिन्तन बिना, प्रयास अधूरा रहता है, इस लिए अर्थ चिन्तन के लिए माण्डूक्य उपनिषद का विचार कर्तव्य है)॥

मूलः—ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥२९॥

अर्थः-ततः=उस ईश्वर प्रणिधान से ॥ प्रत्यक् चेतनाधिगमः= अन्तरात्मा चैतन्य का साक्षात्कार॥ च अन्तराय अभावः अपि= और समाधि में जा विघ्न है उनका अभाव भी (होता है)॥ २६॥

टीकाः-जो विघ्न प्रथम योगारम्भ काल में होते हैं, व्याधि आलस्यादिक, वे ईश्वर प्रणिधान से नहीं रहने पाते और इस योगी को स्वरूप का दर्शन यानी आत्मा साक्षात्कार भी होता है ॥ जैसा ही ईश्वर पुरुष हैं, शुद्ध है, स्वच्छ है, केवल है, अनादि है, निरुपाधि है, इसी प्रकार यह बुद्धि का प्रकाशक द्रष्टा पुरुष भी, ऐसा ही साक्षात्कार होता है (केवल नाम जप से अथवा ज्ञान श्रवण से भी बिना मानसिक प्रणिधानादिक तीनों के अभ्यास के साक्षात्कार नहीं होता)

मूलः—व्याधिं, स्त्यान संशय प्रमादालस्याविरति भ्रान्ति दर्शना लब्ध भूमि कत्वानवस्थित्वानि चित्त विक्षे पास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥

अर्थः—[१] धातु, रस, तथा इन्द्रियों की विषमता रूप रोग व्याधि [२] स्त्यान अर्गात् चित्त की अकर्मण्यता [३] संशय [४] अनुष्ठान के योग साधनों का न करना [५] कफ के कोप से काया के भारीपन और तमो वृद्धि से चित्त के भारी पन से कार्य्यें में अप्रवृत्ति रूप आलस्य [६] विषय त्रष्णा [७] भ्रान्ति दर्शत अर्थात् विपरीत ज्ञान [८] समाधि भूमिका का अलाभ [६] समाधि लाभ की भूमि हुए भी चित्त का न टिकना, यह चित्त के विक्षेप रूप नौ योग के विरोधी विघ्न

कहे जाते हैं ॥ ३१ ॥

इनकी निवृत्ति का उपाय ३२ के सूत्र में आगे कहा है।

मूल.- दुःख दौर्मनस्याङ्ग मेजयत्व श्वास प्रश्वासाविक्षेप सहभुवः ॥३१॥

अर्थः—[१] दुःख [२] मन का क्षोभ [३] अङ्गों का कांपना [४] रेचक का विरोधी श्वास, [५] पूरक का विरोधी प्रश्वास पूर्वोक्त विक्षेप के साथ होते हैं।

टीका:—दुःख, अध्यात्मिक, अधि-भौतिक, अधिदैविक भेद से तीन प्रकार का है। जिससे प्राणियों का घात होता है जिस के नाश का प्रयत्न किया जाता है वह दुःख है, दौर्मनस्य, इच्छा के घात होने पर मन का क्षोभ है। यह विक्षेप के साथ रहने वाले विक्षिप्त चित्त के धर्म हैं समाहित चित्त के वे नहीं होते हैं, समाधि के विरोधी हैं, वे अभ्यास वैराग से निरोध करने योग्य हैं॥ इनकी और सव विघ्नों की, निवृत्त्यार्थ अभ्यास के विषय का, उपसंहार करते हुए कहते हैं:—

मूलः— तत्प्रतिषेधार्थ मेकतत्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

अर्थः—तत्प्रतिषेधार्थम=अन्तरायों के निषेध के वास्ते
एक तत्वाभ्यासः=एक तत्व का अर्थात् ईश्वर में, ध्यानाभ्यास है

टीका:—विक्षेप की निवृत्ति के वास्ते चित्त के एक तत्व की धारणा का अभ्यास कर्तव्य है॥

(महारामायण में कहा है कि "तव तक रात्री के पिशाचों की न्याईं हृदय में वासनाओं का नृत्य होता है जव तक एक तत्व (परमात्मा के दृढ अभ्यास से मन को नहीं जीता)। इस चित्त के एक तत्व के अभ्यास की स्थिति के लिए चित्त की शुद्धि के उपाय को कहते हैं॥

मूलः—मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्या पुण्य विषयाणां भावना तश्चित्त प्रसादनम् ॥३३॥

अर्थः—सुखियों में मैत्री, दुःखातुर पुरुषों पर करुणा पण्यवानों

से मुदिता और पापियों से उपेक्षा करने की भावना से चित्त का शोधन होता है ॥ राग, द्वेष, ईर्ष्या, परोपकार करने की इच्छा, असूया और आमर्ष यह कालुष्य निवृत्त होते हैं ॥

टीकाः—इस प्रकार इस योगी की भावना सें शुक्ल धर्म (पुण्य) उपजता है, उस से चित्त शुद्ध होता है ॥ शुद्ध हुवा चित्त, एकाग्र होकर स्थित अवस्था को प्राप्त होता है ॥

मूलः—प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४॥

अर्थः—अथवा प्राण के प्रच्छर्दन यानी रेचक से और साथ ही विधारण अर्थात् बाह्य कुंभक से चित्त की शुद्धि होती है ॥ (इसी लिये नित्य त्रिकाल सन्ध्योपासना का मुख्यांग प्राणायाम नित्य कर्तव्य हैं द्विजों के वास्ते नियत है न करना पाप है ॥

मूलः—विषयवती वाप्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबान्धनी

अर्थः—वा विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्ना=अथवा दिव्य विषय के साक्षात्कार वाली सिद्धि उत्पन्न हुई हुई ॥ मनसः स्थिति निबन्धिनी=मन को स्थिति में बांधने वाली है, जैसे इस के, नासाग्र के धारण से जो दिव्य गन्ध साक्षात्कार होता है, सो गन्ध प्रवृत्ति है, ऐसे ही जिव्हा के अग्र में धारण से, दिव्यरस का साक्षात्कार रस संवित् है, तालु की धारणा से रूप संवित् जिव्हा के मध्य में स्पर्श संवित् होती है, और जिव्हा के मूल में धारणा के अभ्यास से शब्द संवित् होती है यानी दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है, सो शब्द प्रवृत्ति है, इन में से कोई भी अभ्यास सफल होने पर, मन स्थित होकर चित्त शुद्ध होता है, योग में श्रद्धा पक्व हो जाती है ॥

मूलः—विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

अर्थः—अथवा अहङ्कार वा बुद्धि में धारणा से (जैसे सोऽहं शिवोऽहं ब्रह्मैवाहं इत्यादिक धारणा है तद्वत्) जो विशोका ज्योतिष्मति नाम की प्रवृत्ति होती है, उस से मन की स्थिति होती है।।(विशोका अर्थात् शोक रहित और ज्योतिष्मति अर्थात् प्रकाशमान ज्ञान वाली ऐसी चित्त की अवस्था विशेष विशोका ज्योतिष्मति प्रवृत्ति है) ॥ ३६ ॥

मूलः— वीतराग विषयं वा चित्तं ॥ ३७ ॥

अर्थः—अथवा वीत राग चित्त में ध्यान धारणा से चित्त स्थिती पद को प्राप्त होता है, (जैनी लोक यानी श्रावकगण, मुनि सिद्ध जिनेन्द्र महावीर आदिक सिद्ध योगियों में धारणा ध्यान करते हैं और कई राज योगी अपने विरक्त गुरु में धारणा ध्यानाभ्यास करते हैं) ॥ ३७ ॥

मूलः— यथाभिमत ध्यानाद्वा ॥ ३८ ॥

अर्थः—अथवा यथेष्ट रूप के ध्यान से, चित्त स्थिति पद को प्राप्त होता है ॥ (कोई योगी लोग सूर्य चन्द्र के प्रकाश में ध्यान करते हैं कोई हृदय कमल पिण्ड आदिक में धारणा करते हैं: कोई श्याम सुन्दर वा देवी आदिक के सगुण रूप का ध्यान करते हैं, इत्यादिक बहुत से धारणा ध्यान के प्रकार हैं, कोई सहस्रदल कमल ब्रह्माण्ड में अन्तर ध्यान करते हैं, कोई भ्रकुटि में ज्योति ध्यान करते हैं) ॥

मूलः— स्वप्न निद्रा ज्ञानालम्बनो वा ३९ ॥

अर्थः—अथवा स्वप्न में देखे हुए देवता गुरु आदिक में, वा निद्रा के सुख मात्र में, आलम्बन वाला चित्त स्थित होता है ॥३९॥

मूलः—परमाणु परम महत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

अर्थः—अस्य=इस योगीं के, परमाणु महत्वान्तः=परमाणु से लेकर आकाश पर्यन्त जिस जिस में धारणा का अभ्यास करे । परम-वशीकारः=चित्त की स्वाधीन स्थिति हो जाती है ॥ (यूरूप के आधुनिक विद्वानों ने भौतिक विज्ञान में इसी कारण से अपूर्व ख्याति और स्वार्थ लाभ प्राप्त किया है कि उन्होंने एक एक अणु, दूयणुक से लेकर, प्रकृति के सम्पूर्ण भौतिक तत्वों में सूक्ष्म आकाश, वायु, तेज, जल में विद्यु त के तत्वों में तथा प्रकाश शब्द आकर्षण आक्रमण स्तम्भ द्रवता आदिक शक्तियों में धारणा विचार से, उनमें, वशीकारता प्राप्त करली है) ॥४०॥

मूलः— क्षीणवृत्ते रभिजातस्येवमणेर्ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्येषु तत्स्थ तदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

अर्थः—अभिजातस्य इवमणेः=जैसे उत्तम नवीन मणि होती है

ऐसे ॥क्षीण वृत्तेः=क्षीण वृत्ति वाले चित्त की, गृहीत् ग्रहण ग्राह्य षु=गृहिता अर्थात् अस्मिता में शुद्धाहंकार में ग्रहण अर्थात इन्द्रिय ज्ञान में और ग्राह्यों अर्थात् भूत भौतिक स्थूल, सूक्ष्म विषयों में (धारणा से) तत्स्थ= उस उस विषय में स्थित चित्त की, ।

तदं जनता समापत्तिः=उस उस विषय को आकारता रूप समापत्ति अर्थात सम्प्रज्ञात समाधि वाली प्रज्ञा होती है ॥४१॥

मूलः— तत्र शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

अर्थः—तत्र=तीनों गृहीता ग्रहण और ग्राह्यों में से ।

शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः संकीर्णा=शब्द विकल्प अर्थ विकल्प और ज्ञान विकल्पों के साथ मिली हुई ॥ सवितर्का समापत्तिः= सवितर्क समाधि प्रज्ञा होती है ॥ (जैसे गो शब्द गो अर्थ और गो ज्ञान इन तीनों विकल्पों सहित गो में, धारणा ध्यान से, जो गो वाली समाधि प्रज्ञा होती है, वह सवितर्क है) ॥ ४२ ॥

मूलः— स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थ मात्र निर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

अर्थः—स्मृत्ति परिशुद्धौ=शब्द के संकेत की स्मृति के, निवृत्त होने पर । स्वरूप शून्य इवं=ग्रहणात्मक प्रत्यय रूप यानी विषय के ज्ञानरूप और ध्याता जो अहंकार इन दोनों से रहित शून्यवत् ।। अर्थ मात्र निर्भासा=केवल ध्येयाकार मात्र रूप से भासमान निर्वितर्का=निर्वितर्का नाम वाली समाधि होती है ॥ ४३ ॥

मूलः—एतयैव सविचारा च सूक्ष्म विषयाव्याख्याता ॥ ४४ ॥

अर्थः—एतया एव=इस सवितर्क निर्वितर्क के निरूपण से ही ॥ सूक्ष्म विषया सविचारा निर्विचारा च व्याख्याता=सूक्ष्म वस्तु को विषय करने वाली सविचारा निर्विचारा समापत्ति भी कही है ॥

मूलः—सूक्ष्म विषयत्वं चालिङ्ग पर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

अर्थः—सूक्ष्म विषयता भी शब्दादिक तन्मात्रा से लेकर प्रधान पर्यन्त है ॥ ४५ ॥

मूलः— ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६॥

अर्थः—वे सवितर्कादि चार प्रकार की बाह्य वस्तु को आलंबन करने वाली सबीज समाधि हैं ॥ ४६ ॥

मूलः— निर्विचार वैशारद्ये ऽध्यात्म प्रसादः ॥ ४७ ॥

अर्थः—निर्विचार समापत्ति की स्वच्छता से अध्यात्म प्रसाद होता है, अर्थात् भूतों से प्रधान पर्यन्त सब का युगपत् काल में ग्रहण होता है। (अध्यात्म विचार द्वारा बुद्धि स्वच्छ और एकाग्र होने से आत्म ज्ञान होता है; जिस एक आत्मा के जानने से सब, आत्मा ब्रह्म रूप से जाना जाता है कि सब का आत्मा सब रूप एक अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म ही है; यही तात्विक अध्यात्म प्रसाद है जो उपनिषद का मत है अन्यथा अपनी भावना के अनुसार अपनी अपनी सृष्टि का सब को अपने अपने काल में युगपत ग्रहण हो ही रहा है, चित्त की एकाग्रता से बुद्धि तीक्ष्ण होकर और अधिक सूक्ष्म भौतिक विज्ञान हो जावेगा)।

टीका:—अशुद्धि जो आवरण मल और विक्षेप हैं, यानी जो अज्ञान और पाप का तम और रजोकुणात्मक चित की चञ्चलता या दुःख है उन दोषों से रहित, योगी के प्रकाश स्वरूप बुद्धि सत्व को रज तम से न दबने वाली, स्वच्छ स्थिति का प्रवाह, जो वैशारद्य है सो होता है ॥ जब निर्विचार शुद्ध अहमादि सूक्ष्म तत्वों में धारणा ध्यान के अभ्यास से समाधि में यह वैशारद्य रूप कौशल उत्पन्न होता है, तब योगी के अध्यात्म प्रसाद होता है अर्थात् चित्त की सम्यक शुद्धि के प्रभाव से सूक्ष्म तत्वों का यथाभूत सत्य अर्थ को विषय करने वाला और क्रम के विरोध से रहित यानी क्रम के अनुसारी, स्पष्ट साक्षात्कार होता है जिसको प्रज्ञा लोक कहते हैं। इसी बात को आचार्य ने कहा है:— प्रज्ञा के प्रसाद यानी बुद्धि की स्वच्छता पर आरूढ होकर आप शोक रति हुवा २ सामर्थ्य हीन दीन जनों पर ऐसे शोक करता है, जैसे कोई बुद्धिमान, पहाड़ की चोटी पर चढ़ कर भूमि पर स्थित सब वस्तुओं

परुषां को उपर से देखता है ॥ ४७ ॥

मूल:--ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

अर्थः—तत्र=उस अध्यात्म प्रसाद के होने पर। ऋतंभरा प्रज्ञा =ऋतंभरा प्रज्ञा होती है, अर्थात् सत्य अर्थ की प्रकाशने वाली प्रज्ञा उदय होती है।

टीका:—उस समाहित चित्त पुरुष के जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसका नाम ऋतंभरा है॥ अन्य को विषय करने वाली भी वह प्रज्ञा, सत्य को ही धारण पोषण करती है उसमें विपर्यय ज्ञान की गन्ध भी नहीं होती हैं इसी वात को आचार्य ने कहा है:-

(ज्ञान योग शास्त्र के) श्रवण से, युक्ति अनुमान द्वारा तर्करूपी मनन से और ध्यानअभ्यास के रस रूप निदिल्यासन से तीन प्रकार की प्रज्ञा का साधन करता हुआ, उत्तम योग को पाता है ॥ ४८ ॥

मूलः—श्रुतानुमाने प्रज्ञा भ्यामन्य विषया विशेषार्थत्वात॥

अर्थः-श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यां=श्रुत अर्थात् शास्त्रीय आगम प्रज्ञा यानी सुने ज्ञान से, अनुमान प्रज्ञा यानी तर्क विचार से॥

अन्य विषयाः-यह ऋतंभरा प्रज्ञा अन्य विषय वाली है॥

विशेषार्थत्वात्=विशेष अर्थ को विषय करने वाली होने से॥ सूक्ष्म नेडे और दूर के जो सूक्ष्म भूतों के शक्ति सामर्थ्य वाले और पुरुष गत भावना मय, विषय हैं, उनके सामान्य स्थूलांशों कों छोड़ कर जो सूक्ष्म रहस्य मय दुर्गम विशेषांश हैं, सो वे ऋतंभरा प्रज्ञा का विषय है, जैसे मनुष्यों के हार्दिक भावों की पहिचान, मुख की आकृति मात्र से उनके स्वभाव की पहिचान होनी, भावना से कार्यों की सिद्धियां और आकाश वायु, तेज, जल, पृथ्वी, विद्युत इत्यादिक तत्वों के गुह्य सामर्थ्यों को जान कर उनसे आकाश गमन जल मग्नता विद्युत प्रकाश कला कौशलादि कार्यों की प्रगटता दिव्यलोकों के रहस्य जाने जाते हैं और निष्कामता के उदय हुए हुये आत्मसाक्षात्कार होना यह सब ऋतंभरा प्रज्ञा का विषय है क्यों कि चित्त की एकाग्रता और सूक्ष्म तत्वों का

अभ्यास सिद्ध होने पर भी विना वैराग के और ज्ञानाभ्यास के आत्म साक्षात्कार अत्यन्त दुर्लभ देखा गया है।

(सिद्धियों के प्राप्त होने पर भी आत्म ज्ञान नहीं होता और आत्म ज्ञानी के लिए भी सिद्धियों का होना आवश्यक नहीं क्यों कि विषय भिन्न २ है ॥ ४९ ॥

मूलः—तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

अर्थः—तज्जः संस्कारः=ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न हुए संस्कार। अन्य संस्कार।प्रतिबंधी=व्युत्थान संस्कार के रोकने वाले हैं ॥

टीकाः—समाधि प्रज्ञा से उत्पन्न हुए संस्कार, व्युत्थान संस्कार समूह के वाधक हैं यानी घातक हैं ॥ व्युत्थान संस्कारों के दव जाने से उससे उत्पन्न हुए जो वृत्ति ज्ञान हैं वे नहीं होते हैं ॥ वृत्तियों के निरोध होने से समाधि में उपस्थिती हो जाती है। उससे समाधि जन्य प्रज्ञा और उस प्रज्ञा के संसाकार होते हैं। उससे सजातीय नवीन संसकारों का समुदाय उत्पन्न होता है। उससे प्रज्ञा और उससे फिर संस्कार होना ऐसा प्रवाह चलता रहता है ॥ इस वास्ते प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध बुद्धि जन्य संस्कार क्लेश के नाश में कारण होने से, चित्त को अधिकार संपन्न बनाते हैं, वे चित्त को अपने कार्य से शिथिल वना देते हैं क्यों कि चित्त की चेष्टा तब तक ही होतो रहती है जब तक विवेक ख्याति का उदय नहीं हुआ॥५०॥

मूलः—तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ५१

अर्थः—तस्यापि निरोधे=उस ऋतंभरा प्रज्ञा और उसके संस्कारों के निरोध होने पर ॥ सर्व निरोधात्=सबका निरोध होने पर ॥ निर्बीजः समाधिः=निर्बीज समाधि होती है ॥

टीकाः—निरोध में स्थिति काल के अनुभव से, निरुद्ध चित्त के संस्कारों की विद्यमानता का अनुमान होता है ॥ व्युत्थान के संस्कार, निरोध समाधि से उत्पन्न हुए संस्कार और जो कैवल्य दायक संस्कार हैं, उन सब के साथ चित्त अपनी कारण प्रकृति में स्थित हुआ, अत्यन्त ही

लीन हो जाता है (पुनर्जन्म के योग्य नहीं रहता, जल तरङ्गवत् कार्य चित्त का अपने कारण रूप प्रकृति में लय हो जाता है) इस लिये वे समाधि-प्रज्ञा-जन्य-संस्कार, चित्तके अधिकार के विरोधी हैं, चित्तको स्थिति के हेतु नहीं रहते हैं ॥ जिस वास्ते कि संसारभाग की समाप्ति वाला चित्त, अपने कैवल्य भागी संस्कारों के सहित अत्यन्त निवृत्त हो जाता है, उसके निवृत्त हाने से पुरुष अपने स्वरूप में स्थित होता है, इस लिए वह (चित्तरहित) पुरुष शुद्ध मुक्त कहलाता है ॥ ५१ ॥

यह समाधि पाद, उत्तमाधिकारी, समाहित चित्तके भाग्य वाले पुरुष के लिये कहा है ॥ आगे के अध्याय में विक्षिप्त चित्त वाले मन्द अधिकारी के वास्ते समाधि के लिये उपाय जो क्रिया योग है, उसका कथन करेंगे ॥

विना चित्त की एकाग्रता द्वारा अन्तः करण के शुद्ध हुए, न तो यह लोक ही सिद्ध होता है और न परलोक, फिर मोक्ष तो दूर है, इस लिये भोग मोक्ष रूप पुरुषार्थ के सिद्ध के लिए, प्रत्येक नरनारी को योगाभ्यास कर्त्तव्य है ॥

इस समाधि पाद में प्रथम सूत्र में मंगलाचरण पूर्वक पूर्व आचार्यों से उपदिष्ट, योग शास्त्र को आरम्भ करने की प्रतिज्ञा की ॥ दूसरे सूत्र में योग किसको कहते हैं यह निरूपण किया ॥ तीसरे सूत्र में समाधि में स्वरूपावस्थान कहा जो कैवल्य मोक्ष है ॥ चतुर्थ सूत्र में व्युत्थान कालीन वृत्ति की समानाकारता का, आत्मा में आरोप होना निरूपण किया ॥ पंचम सूत्र से ११ सूत्र तक वृत्तियों के भेद और उनके स्वरूप का निरूपण किया ॥ बारहवें सूत्र में वृत्तियों के निरोध का मुख्यउपाय अभ्यास युक्त वैराग कहा ॥ तेरहवें सूत्र में अभ्यास का स्वरूप वर्णन करके चौदहवें सूत्र में उसके दीर्घ कालीन कर्तव्यता का उपदेश किया ॥ १५ तथा १६ के सूत्रों में वैराग के स्वरूप का निरूपण किया ॥ सत्रहवें सूत्र में संप्रज्ञात समाधि कही और अठारहवें के सूत्र से लेकर ३२ सूत्र तक संप्रज्ञात समाधि और उसके अभ्यास का निरूपण किया तथा समाधि के विघ्नों की निवृत्ति का निरूपण किया ॥ ३६ से ४० वें सूत्र

तक चित्त की शुद्धि के उपायों का और चित्त की एकाग्रता के लिये अपेक्षित प्राणायाम ध्यानादिक अभ्यासों को कहा ॥ ४१ के सूत्र से ४६ के सूत्र तक संप्रज्ञात समाधि के भिन्न २ प्रकार के अभ्यासों का निरूपण करके उनको सबीज समाधि कहा। ४७ सूत्र से ५० के सूत्र तक निर्विचार संप्रज्ञात समाधि के अभ्यास से अध्यात्म प्रसाद और ऋतंभरा प्रज्ञा का निरूपण किया और व्युत्थान संस्कारों का निरोध रूप फल कहा ॥ अंत के ५१ के सूत्र में उसके संस्कारों के भी निरोध से सर्व वृत्तियों के निरोध पूर्वक निर्बीज समाधि रूप कैवल्य पद का उपदेश किया ॥ जो लोग यह समझते हैं कि योगाभ्यास केवल वनवासी तपस्वी ब्रह्मचारी सन्यासी का ही धर्म है वे भूल करते हैं, हिरण्यगर्भ से लेकर सूर्यमनु इक्ष्वाकु, राम कृष्ण पातञ्जल व्यास वशिष्ट सब गृहस्थ ही योग के आचार्य हुये हैं और त्रिकालसंध्या उपासना रूप विधी विधान योगाभ्यास का ही आरंभ है और दीर्घ काल पश्चात् उसी से पूर्णता होने की आशा है ॥ इस त्रिकाल संध्या उपासना के छूटने से वा श्रद्धा रहित कभी कभी या दो वार कर लेने मात्र से ही द्विजों का पराक्रम तेज वुद्धि ज्ञान नष्ट होकर, वे सब प्रायः शूद्र संज्ञा को प्राप्त होगये और आलसी बनगये ॥ यदि श्री कृष्ण लीला की गम्भीर, स्वच्छ, भगवत् प्रेम की उत्पादक भावना को न ग्रहण करके चित्त कामासक्ति और विलासिता से पूर्ण होता हो तो अपना विनाश समझ कर, उसको तुरन्त छोड़दो और केवल योग का आश्रय लो ॥ ऐसा न होता तो स्वयं श्री कृष्ण भगवान् श्रीमद्भगवत् गीता योग शास्त्र में मुख्यतः योगाभ्यास पूर्वक ही भक्ति ज्ञान का क्यों निरूपण करते और प्रणव द्वारा अपने ध्यान का क्यों आदेश करते या अपने विराट रूप अथवा चतुर्भुजी स्वरूप का क्यों कथन करते अथवा "वासुदेव सर्वमिती सदसच्चाहं" क्यों कहते ॥

वैराग बिना, अभ्यास नहीं हो सकता और अभ्यास बिना, चित्त एकाग्र नहीं हो सकता, इस लिए दोनों साथ ही साथ आवश्यक हैं ॥ परमात्मा में ही सब कुछ एकत्र हैं, क्यों कि उसी से सब कुछ हुआ

उसी में दृष्ट आरहा है, अविद्या से उल्टा दृष्ट आता है, विद्या द्वारा उसके निवृत्त होने से यथावत् दृष्ट आता है इस लिये प्रथम विद्या यानो सत्य ज्ञान से, असत्य अविद्या निवृत्त होगी, और वह आत्मा का ही ज्ञान होगा शेष अनात्मा है असत्य है ॥ आत्मा ज्ञान-स्वरूप है अनन्त है शुद्ध है केवल है इस लिये उसके ही ध्यानाभ्यास से उसकी प्राप्ति निश्चय जानों और उसके प्राप्त होजाने से उससे अधिक सुख या प्रेम का विषय पाने के लिए क्या शेष रह गया, यदि फिर भी कुछ इच्छा रहे तो वह ईश्वर ही की इच्छा है, इस लिए उसमें कौन बाधक हो सकता है ? अभ्यासी के अभ्यास के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह सम्पूर्ण योग शास्त्र में लिखे हुये अभ्यासों के अनुष्ठान को सिद्ध करके तुरन्त सिद्ध बन जावे और लोगों को सिद्धाई दिखाता फिरे, तात्पर्य इस सब निरूपण का यह है कि अधिकार के अनुसार जो विषय इष्ट हो उसको स्वीकार कर के चित्त एकाग्र करे जिससे श्रद्धा उत्पन्न हो कर सिद्धि रूप विघ्नों से बचता हुआ परम लक्ष्य परमात्मा को पाकर सब दुःखों से सदा को छूटे ॥ यदि सकाम उपासक योगी भी हो तो भी लौकिक विज्ञानों पर प्रभुता हस्तगत होगी जैसे विदेशी पाश्चात्य विद्वान परीक्षागार में एकाग्रता पूर्वक विचाराभ्यास से लौकिक विज्ञान से कुशल होते हैं, यह भी योग है ॥

॥ इति प्रथमः समाधि पादः ॥

---

* श्री मङ्गल मूर्त्तये नमः *

श्री पातञ्जल योग दर्शनं द्वितीयः साधन पादः

प्रथम समाधि पाद में समाहित चित्त योगी को उपदेश किया

परन्तु व्युत्थित चित्त योगी कैसे योग युक्त होवे इसका उपाय वर्णन करने को इस पाद का आरम्भ करते हैं :—

मूलः—तपः स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः ॥१॥

तप स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान, क्रिया योग है ॥

टीका:—प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप अथवा मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन (जैसे उपनिषद् शास्त्र, योग शास्त्र, भगवद्गीता, महारामायण आदिक मोक्ष प्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन है ऐसे सत् शास्त्रों का अध्ययन विचार नित्य पाठ) स्वाध्याय है, हित मित् मेध्य भोजन और द्वन्द्व सहन सहित इन्द्रियों का निरोध, तप कहलाता है ॥

वाचक, कायक, व मानसिक सब क्रिया का ईश्वर समर्पण, ईश्वर प्रणिधान है, सो प्रथम पाद में कह चुके हैं ॥ १ ॥ यह जो क्रिया योग कहा है इसका प्रयोजन कहते हैं:—

मूलः—समाधि भावनार्थः क्लेश तनू करणार्थश्च ॥ २ ॥

अर्थ—क्रिया,-योग, समाधि भावना की प्राप्ति के वास्ते है और क्लेशों के नाशोन्मुख करने के लिये है ॥ २ ॥

मूलः अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥

अर्थः—अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष, अविनिवेष, क्लेश हैं ॥

टीका:—क्लेश यह पंच विपर्यय हैं ॥ वे क्लेश, वर्तमान हुये २ गुणाधिकार (संसार) को दृढ़ करते हैं परिणाम (दुःख) को स्थापन करते हैं, उस कार्य्य कारण (जन्म-मरण उत्पत्ति नाशादि) प्रवाह को खोलते हैं परस्पर एक दूसरे के उपकार के आधीन होकर कर्म फल भोग को सब ओर से निरन्तर प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

मूलः अविद्या क्षेत्र मुत्तरेषां प्रसुप्त तनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

अर्थः—प्रसुप्त तनु विच्छिन्नो दाराणाम्=प्रसुप्त (प्रकृति-लीनयोगी) तनु (क्रिया योगी) विच्छिन्न (क्लेशों के पृथक् २ भोग वाले) और उदार (विषयी) जनों के, चार अवस्था वाले, इन ॥ उत्तरेषां=पीछे के अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेष इन चार क्लेशों की ॥ क्षेत्रं=जनने वाली प्रसव

भूमि ॥ अविद्या=अविद्या है (इस लिये अविद्या सब क्लेशों का वाचक जानो ॥)

टीका:—इस प्रकार अविद्या न प्रमाण रूप है और न प्रमाण का अभाव रूप है ॥ विद्या से विपरीत भिन्न प्रकार का ज्ञान, अविद्या है प्रसुप्ति क्या है ? उत्तर यह है कि, चित्त में शक्ति मात्र को लेकर स्थित, कारण रूप से बीज भावों का रहना, प्रसुप्ति है ॥ दग्ध हुए बीज का न उगना तनुत्व कहलाता है, विरोधी भावना से उपमर्दित क्लेश तनु हो जाते हैं ॥ जो अलग अलग से, तिस तिस रूप से पुनः पुनः, क्लेश प्रगट होते हैं वे विछिन्न कहलाते हैं, जैसे राग काल में क्रोध का अदर्शन होता हैं, परन्तु वही राग प्रतिबद्ध हुवा फिर क्रोध रूप से आजाता है, ऐसे ही सब जान लेना, ॥ अब ही जो विषय, भोग देने को विद्यमान हो वह उदार कहलाता है ॥ ४ ॥

मूलः—अनित्याशुचि दुःखानतमसु नित्य शुचि सुखात्म ख्याति अविद्या ॥ ५ ॥

अर्थ:—अन्य में अन्य की बुद्धि रुप विपर्यय ज्ञान वासना, जो अनित्य देवता आदिकों में अमृतत्व की बुद्धि, अशुचि स्त्री, पुत्र, स्वदेहादिक में शुचि पने की बुद्धि, दुःख रुप विषयों में सुख बुद्धि और अनात्म देह रुप पंच कोशादिकों में आत्म बुद्धि, सो अविद्या हैं ॥

टीका:—काम का अशुचि स्थान होने से, बीज से यानी कारण से अशुचि होने से, आश्रय देहादिक अशुचि होने से, निकल कर, अशुचि हृदय होने, और विनाश होकर भी अशुचि होने से, कामको शौच रहित होने से, पंडित उसको अशुचि जानते हैं, इस प्रकार कामके विषय स्त्रिपुत्रादिकों में, अशुचि में शुचि बुद्धि देखी जाती हैं ॥ नवीन चन्द्र की रेखा के समान सुन्दर यह कन्या जिस के मधुर अमृतसमान अङ्ग हैं मानो चन्द्र मण्डल को तोड़ कर निकली है ऐसी ज्ञात होती है, इस प्रकार इस में किस को किस कारण से अभिलाषा होती हैं ? इस प्रकार अशुचि में शुचि पने का विपर्यय ज्ञान होता है ॥ ५ ॥

मूलः—दृग्दर्शन शक्त्यो रेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

अर्थः—दृग, दर्शन शक्तयोः एकात्मता एवअस्मिता=दृग शक्ति अर्थात् पुरुप और दर्शन शक्ति अर्थात बुद्धि इन दोनों के मिलने से एकात्मता की न्याईं, क्लेश रूप अस्मिता है ॥ (इसी को पूर्व वृत्तिसारुप्यता के नाम से कहा है और वेदान्त शास्त्रों में अन्योन्य अध्यास के नाम से कहते हैं) ॥ अत्यन्त भिन्न पुरुप और बुद्धि के माने हुये संकीर्ण एकत्व भाव से ही भोग की कल्पना होती है कि मैं भोक्ता हूँ ॥

टीकाः—पुरुष में बुद्धि के अवस्थान से तो मोक्ष होता है तब तो यह अस्मिता भी क्लेश भोग रूप न हुई कैवल्य रूप ही है इस शङ्का का यह समाधान है जैसा कि आचार्य ने कहा हैः—बुद्धि में, परम पुरुष, आकार, शील विद्या आदि विशेषणों के कारण अत्यन्त भिन्न है, विना प्रसंख्यान विवेक ख्याति के शुद्ध चिति पुरुप में अशुद्ध बुद्धि की स्थिति और समानता नहीं हो सकती है इस लिये अस्मिता मिथ्या भोगाभिमानी क्लेश रूप है ॥ ६ ॥

मूलः—सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

अर्थः—सुख के अनुसारी होने वाला प्रत्यय (ज्ञान) विशेष, राग है ॥ सुख की स्मृति पूर्वक सुख और उसके साधनों में जो तृष्णा लोभ है सो राग है ॥ ७ ॥

मूलः—दुःखानशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

अर्थः—दुःख को अनुसरण करने वाला प्रत्यय विशेष, द्वेप है ॥ दुःख के जानने वाले दुःख की अनुस्मृति पूर्वक जो दुःख और दुःख के साधनों में क्रोध है सो द्वेष है ॥ ८ ॥

मूलः—स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ॥९॥

स्वरसवाही=स्वभाविक ही, विदुषः अपि=विद्वान के भी (तथा, रूढः अभिनिवेशः=) तैसे ही (क्रमिवत) आरूढ, जो मरण त्रास है सो अभिनिवेश है ॥ मरण के भय को अभिनिवेश कहते हैं सो सब जीवों में समान है ॥

मूलः – ते प्रतिप्रसव हेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

अर्थः—ते सूक्ष्माः=वे समाप्ताधिकार योगी के दग्धबीज के सदृश सूक्ष्म क्लेश, जो अति सूक्ष्म वासना रूप हैं सो॥ प्रतिप्रसव हेयाः =चित्त के अपने कारण प्रकृति में विलय रूप परिणाम द्वारा, हेय हैं अर्थात् उसके साथ ही अस्त हो जाते हैं॥

टीका:—तात्पर्य यह है कि जैसे वस्त्र का स्थूल मल प्रक्षालन से, और सूक्ष्म मल सज्जो आदि क्षार से निवृत्त होते हैं परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म मल वस्त्र के दग्ध होने से ही निवृत्त होता है, इसी प्रकार स्थूल वृत्ति रूप मल क्रिया योग से और उससे सूक्ष्म मल प्रसंख्यान से हातव्य है॥ परन्तु अति सूक्ष्म मल केवल चित्त के प्रलीन हुए निवृत्त होंगे इसी बात को कहते हैं कि: -

मूलः—ध्यान हेयास्तद् वृत्तयः ॥ ११ ॥

अर्थः—तद्वृत्तयः=क्लेशों की स्थूल से सूक्ष्म अवस्था रूप हुई वृत्तियां ध्यान हेयाः=ध्यान से निवृत्त होती हैं॥

टीका:—बीज भाव को यानी कारण संस्कार रूप को प्रप्त होकर स्थित, जो स्थूल वृत्तियां हैं वे क्रिया योग से सूक्ष्म हुई हुई प्रसंख्यान रूप ध्यान से तब तक हातव्य हैं जब तक वे सूक्ष्म हो जावें और दग्ध बीज के सदृश हो जावें॥

मूलः–क्लेश मूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः॥१२॥

अर्थः—कर्म राशी क्लेश मूलक है, इसी शरीर में फल देने वाला है अथवा जन्मान्तर में फल देता है॥

टीका:—बारम्बार तीव्र, क्लेश से भय भीत जन का, या व्याधि ग्रस्त का यानी रोगी का, या किसी कृपण का पुनः पुनः अपकार करने से तुरन्त फल होता है, अथवा किसी के साथ विश्वासघात करने से या बारम्बार महानुभाव तपस्वी जनों का अकारण अपकार करने से भी, पाप कर्माशय तुरन्त अनिष्ट फल देता है, तद्वत पुण्य कर्मों का भी फल जान लेना॥

मूलः—सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः ॥ १३ ॥

अर्थः—सति मूले=क्लेश रूप मूल के विद्यमान हुए ॥ तद्विपाकः =उस कर्म राशीं का फल ॥ जात्यायुर्भोगः=जाति, आयु और भोग होता है ॥

टीकाः—जाति एक कर्म का फल है, आयु एक कर्म का फल है, भोग अनन्त कर्मों का फल होने से मुख्य है और जन्म देने में हेतु हैं ॥ (व्यास भगवान के कथनानुसार जाति एक कर्म का फल है इसी लिये वर्ण धर्म स्थिर रखने के लिये जाति के रक्त की शुद्धि रखने को और जाति की उन्नति के वास्ते ब्राह्मण जाति आदिकों को स्व स्वधर्म पालना उचित है ॥

मूलः—तेह्लाद परितापफलाः पुण्यापुण्य हेतुत्वात् ॥१४॥

अर्थः—(अविवेकी के वास्ते) ते=वे जाति आयु और भोग ॥ ह्लाद परिताप फलाः=हर्ष और परिताप फल वाले होते हैं ॥ पुण्यापुण्य हेतु-त्वात्=पुण्य और पाप निमित्त वाले होने से ॥ तात्पर्य यह है कि पुण्य हेतुक जाति आयु भोग सुख रूप फल देने वाला है, अपुण्य जिनका हेतु है ऐसे जो जाति आयु भोग हैं वे दुःखफल देने वाले हैं ॥ (वर्णा-श्रम धर्म इसी लिए पाप नाशक पुण्यकारी होने से रक्षणीय हैं) अब कहते हैं कि विवेकी को तो सर्वदा सब ही दुःख रूप हैं ॥

मूलः—परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुण वृत्तिविरोधाच्च दुःख मेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

अर्थः—विवेकिनः=विवेकी को, अर्थात् संसार के यथावत् स्वरूप के देखने वाले पुरुष के लिये (न कि आत्मस्वरूप दर्शी को) सर्वं दुःखं एव=(संसर्ग से भी और स्वरूप से भी) सब दुःख ही है ॥ सुख का गन्ध भी नहीं है यह "एव" शब्द से कहा है ॥ परिणाम ताप संस्कार दुःखैः=परस्पर मिले हुए पाप जन्य, जन्म मरणात्मक सांसर्गिक, जो परिणाम दुःख और साधनाभाव रूपा व लोभादि होने से ताप दुःख, तथा सजातीय संस्कारों के प्रवाह रूप जो संस्कार दुःख इन सभों करके ॥ च गुण वृत्ति विरोधात्=और त्रिगुणात्मक वृत्तियों के परस्पर वद्ध घातक

स्वभाव होने से, सब दुःख ही है ॥

टीका:–जो भोगों में तृप्त होने से इन्द्रियों की उपशान्ति है सो सुख है और जो चंचलता से अनुपशान्ति है सो दुःख है ॥ जैसे मकड़ी का जाला नेत्र में पड़ कर दुःख देता है, परन्तु अपने स्पर्श से अन्य शरीर के अवयवों पर पड़ कर दुःख नहीं देता इसी प्रकार यह सब दुःख आंख की पुतली के सदृश कोमल हृदय वाले योगी को ही क्लेश देते हैं अन्यों को दुःख नहीं देते, जो भोगी संसारी हैं उनको क्लेशित नहीं करते हैं (यह क्लेश वैराग्य जन्य है बड़े पुण्य कर्मों का फल है पापों का फल नहीं है) ॥ इस महान दुःख के समुदाय की उत्पत्ति का बीज कारण अविद्या और उसके अभाव का हेतु सम्यक् दर्शन है ॥ (पूर्वोक्त कारण से महान ऋद्धि सिद्धि सम्पन्न महर्षयों राजऋषियों ब्रह्मऋषियों सम्राट आदिकों ने भी त्याग पूर्वक योगज्ञान का ही आश्रय लिया ॥) यह योग शास्त्र चतुर्व्यूह है:—(१) दुःख बाहुल्य वाला संसार हेय है। (२) प्रधान और पुरुष का जो संयोग है सो हेय रूप जो अनागत दुःख संसार है उसका कारण है (३) संयोग की अत्यन्त निवृत्ति,हान है अर्थात् मोक्ष है (४) सम्यक् दर्शन, हान का अर्थात् संसार की निवृत्ति रूप कैवल्य मोक्ष का उपाय है ॥ इनमें से प्रथम हेय को कहते हैं ॥

मूलः—हेयं दुःख मनागतम् ॥ १६ ॥

अर्थः—अनागत् अर्थात् जो दुःख अभी नहीं आया वह दुःख हेय है ॥

टीका:—जो व्यतीत हो गया सो हो गया जो वर्तमान है सो अनिवार्य है शेष जो आने वाला शिर पर है उसकी ही निवृत्ति का उपाय हो सकता है ॥

मूलः--द्रष्टृ दृश्योः संयोगो हेय हेतुः ॥ १७ ॥

अर्थ–जो पुरुष और बुद्धि का संयोग है सो हेय यानी अनागत दुःख रूप संसार का कारण है ॥

टीका:–द्रष्टा,बुद्धि के समानाकार स्फुरणवाला ज्ञाता पुरुष है, और दृश्य रूप बुद्धि सत्वमें उपारूढ सब धर्म हैं ॥ सो यह दृश्य, चुम्बक मणि के

सदृश है दृश्य होकर स्वयं चैतन्य रूप स्वामी पुरुष का उपकारी (भोगप्रद) होता है ॥ ज्ञान और कर्म को विषयता को प्राप्त हुआ अन्य (करता भोक्ता) विपरीत स्वरूप से प्रतिलब्ध (बुद्धि के समान भान) होने वाला, स्वरूप से स्वतन्त्र होते हुये भी परार्थ होने से, अर्थात बुद्धि के वास्ते परतन्त्र ऐसा जो दृष्टा है, उस का जो दर्शन शक्ति यानी बुद्धि के साथ, अनादि सार्थक किया हुआ संयोग है, सो संयोग, हेय का हेतु अर्थात दुःख का कारण है ॥

मूलः – प्रकाश क्रिया स्थिती शीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगा–
पवर्गार्थं दृश्यं ॥ १८ ॥

अर्थः—दृश्यंभूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थम्=दृश्य स्थूल सूक्ष्म भूत और एकादश इन्द्रिय स्वरूप है भोग के अर्थ है और (सम्यग्दर्शन होने पर) अपवर्गार्थ अर्थात् मोक्ष के वास्ते है ॥ प्रकाश क्रिया स्थिती शीलं=प्रकाश यानी सत्व तथा क्रिया अर्थात रज और स्थिती अर्थात् (रज सत्व जो क्रिया और प्रकाश हैं उनके निरोध रूप) तम इन तीन गुणों वाला है, यह त्रिगुणात्मक शील यानी स्वभाव है जिसका, ऐसा दृश्य है ॥

टीका:—आचार्य ने कहा है:—जिस प्रकार कि विजय और पराजय योद्धाओं की होती है परन्तु स्वामी की जय वा पराजय कही जाती है और वह स्वामी ही उस फलका भोक्ता होता है इस प्रकार बन्ध मोक्ष बुद्धि में ही वर्तमान होते हैं परन्तु पुरुष के कहे जाते हैं और वह पुरुष ही उस बन्ध मोक्ष फल का भोक्ता होता है ॥ बुद्धि की ही पुरुष के वास्ते जो परिसमाप्ति यानी सफलता है सो बन्ध है और पुरुष के लिये ही उसकी निवृत्ति हो जानी मोक्ष है ॥ इससे ज्ञान, धारणा शङ्का समाधान और तत्वज्ञान में हठ पूर्वक प्रयत्न यह सब ही बुद्धि में वर्तमान हैं, परन्तु मोक्ष फल के सहित भोक्ता पुरुष में अध्यारोपित है, क्यों कि दृश्य के आधीन ही दृष्टा कहलाता है, इसी लिये, प्रथम दृश्य का स्वरूप कहा है अब उसी का विशेष लक्षण कहते हैं ॥

मूलः—विशेषाविशेष लिङ्गमात्रा लिङ्गानि गुण पर्वाणि ॥१६॥

अर्थः—विशेष=५ भूत ११ इन्द्रिय मिला कर १६ विकार रूप ॥ अविशेष = ५ तन्मात्रा १ अहंकार ऐसे षट परिणाम वाले ॥ लिङ्ग मात्रा =महतत्वरूप । अलिङ्गानि=और मूल प्रकृति रूप अलिंग मिलाकर चारों॥ गुण पर्वाणि=गुणोंकी (अर्थात् त्रिगुणात्मक दृश्य की) अवस्था हैं ("विशेषाविशेष लिङ्ग मात्रा लिङ्गानि" यह एक ही समास है") ॥

मूलः—दृष्टा दृशि मात्रःशुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

अर्थः—दृष्टा दृशि मात्रः=दृष्टा कूटस्थचिति शक्ति मात्र (ज्ञानरूप) है ॥ शुद्धः अपिः=शुद्ध अर्थात् अपरिणामी भी है तो भी ॥ प्रत्ययानुपश्यः=बुद्धि की वृत्ति के अनुसार देखने वाला है ॥

टीकाः—दृष्टि मात्र चिद शक्ति ही, विशेष रूप से अपरिणामी विचार की गई है, वह बुद्धि का दृष्टा है, वह न बुद्धि के समान रूप है, न अत्यन्त विरूप है ॥ वह चिति शक्ति, बुद्धि के समान रूप तो इस लिये नहीं है क्योंकि ज्ञात अज्ञात विषय से रहित है ॥ बुद्धि विकारी है उसका विषय गो घटादि ज्ञात भी है और अज्ञात भी है ॥ तब बुद्धि से विरूप आत्मा होगा ? ऐसा नहीं हैं, अत्यन्त विरूप भीं नहीं है क्योंकि (निर्विकार कूटस्थ) शुद्ध हो कर भी यह वृत्ति के अनुसार दृष्टा है अर्थात बृत्ति ज्ञान के अनुसार देखतो हुआ भी वह आत्मा उसका स्वरूप जैसा नहीं ज्ञात होता है । (किन्तु सांची दृष्टा, बुद्धि रूप दृश्य से पृथक ही है) ॥

मूलः—तदर्थमेव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

अर्थः—दृश्यस्य आत्मा तदर्थ एव=दृश्य का स्वरूप पुरुष के अर्थ ही है ॥

टीकाः—दृश्य, चैतन्य स्वरूप पुरुष के कर्म का विषय माना जाता है, इस लिए दृश्य का स्वरूप पुरुष के वास्ते ही हैं ॥ उस दृश्य का स्वरूप तो भिन्न रूप से ज्ञात, भोग मोक्ष का विषय माना हुआ है । उसका ऐसा पुरुष के सदृश स्वरुप नही जाना जाता है ॥ यदि दृश्य के स्वरूप की हान यानी निवृत्त मानलें तो दृश्य का नाश हो, परन्तु उसका तो नाश नहीं होता क्यों कि:—

मूलः–कृतार्थं प्रति नष्टमनष्टं तदन्न साधारण त्वात् ॥२२॥

अर्थः–कृतार्थं प्रति नष्टं अपि, अनष्टं तत् अन्य साधारणत्वात =विद्वान् के प्रति नष्ट हुआ, भी दृश्य, अविद्वान के प्रति अनष्ट है अविद्वान के प्रति और उससे भिन्न विद्वान के दृश्य को साधारण एक होने से ॥ (जैसे किसी चोटी पर कोई खड़ा हो तो उसको अब चोटी नहीं दीखती परन्तु अन्य को तो चोटी दीखती है तद्वत् ॥)

टीकाः–एक कृतार्थ योगी ज्ञानी के लिये दृश्य नहीं भी है (अर्थात अत्यन्त असत् भी है) परन्तु अन्य पुरुष के लिए साधारण विद्यमान है नष्ट नहीं है, कुशल पुरुष के लिए नाश को प्राप्त हुआ भी, अकुशल अकृतार्थ पुरुषों के प्रति दृश्य, उनके कर्म का विषय होकर लब्ध होता है॥

मलः–स्व स्वामि शक्तयोः स्वरुप उपलब्धि हेतुः संयोगः॥२३॥

अर्थः—स्वशक्ति अर्थात् दृश्य और स्वामी शक्ति अर्थात् पुरुष इन दोनों के स्वरूप के ज्ञान का हेतु, इन दोनों का सम्बन्ध है ॥

टीकाः—पुरुष जो स्वामी है वह अपने दृश्य के साथ दर्शन के वास्ते संयुक्त है, उस संयोग से, दृश्य का ज्ञान होता है, जिसको भोग कहते हैं, और जो द्रष्टा के स्वरूप का ज्ञान है वह मोक्ष है, संयोग, दर्शन रूप कार्य्य को करके समाप्त होता है, दर्शन रूप जो ज्ञान है वह अदर्शन के वियोग का कारण है यह कहा ॥ दर्शन अदर्शन का प्रतिद्वन्द्वी है अर्थात् विरोधी है इस लिये संयोग निमित्त से, अदर्शन का अदर्शन कहा ॥ यहां दर्शन मोक्ष का कारण है यह बात नहीं है किन्तु पुरुष को अदर्शन के अभाव से ही बन्ध का अभाव है, वही मोक्ष है, इस प्रकार दर्शन होने से, बन्ध के कारण अदर्शन का नाश होता है, इस वास्ते दर्शन जो ज्ञान है वह कैवल्य मोक्ष का कारण कहा ॥

मूलः—तस्य हेतु रविद्या ॥ २४ ॥

अर्थः—जो प्रत्यक् चैतन्य द्रष्टा का स्वबुद्धि के साथ संयोग होता है उस संयोग का हेतु अविद्या है अर्थात विपर्यय ज्ञान वासना है॥

टीकाः—विपरीत ज्ञान की वासना से वासित जो बुद्धि है न तो कार्य में निष्ठा को प्राप्त होती है न पुरुष के साक्षात्कार को प्राप्त होती

है अधिकार सहित फिर आती जाती रहती है ॥ जो बुद्धि अज्ञान की निवृत्ति वाली है वह पूरुप के साक्षात्कार को प्राप्त होकर रहती है ज्ञान कार्य में निरन्तर स्थित होती है उसका अधिकार अर्थात् भोग समाप्त हो जाता है वह पुनर्जन्म को नहीं प्रप्त हाती है क्यों कि उसके बन्धन का कोई कारण नहीं रहा ॥ इसमें किसी एक देशी वादी की शङ्का को कहते हैं कि किसीने एक नपुन्सक से व्याही हुई स्त्री की बात सुनाई थी— वह स्त्री भोली थी अपने नपुंसक पति से उसने कहा कि हे आर्य पुत्र मेरी बहन पुत्रवती है मेरे क्यों पुत्र नहीं है, उसके पति ने उत्तर दिया कि मैं मर कर तेरे पुत्र उत्पन्न करूंगा ॥ भला इसी प्रकार जब यह विद्य-मान ज्ञान चत्त की निवृत्ति नहीं करता तब विनष्ट होकर करेगा इसकी क्या आशा है ॥ किसी एक देशी आचार्य की यह शङ्का है सो उचित नहीं है क्योंकि बुद्धि की निवृत्ति ही मोक्ष है अज्ञान रूप कारण का अभाव होने से बुद्धि की निवृत्ति होती है वह अदर्शन यानी अज्ञान ही वन्ध का कारण है ज्ञान से निवृत्ति होता है तव चित्त की निवृत्ति रूप मोक्ष ही है, बिना स्थान के, मति का भ्रम प्राप्त क्यों किया जावे ? ॥

मूलः—तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यं ॥२५॥

अर्थः—अविद्या के अभाव से उसके किये हुये संयोग का अभाव हान है और वही पुरुष का कैवल्य है ॥

टीकाः—उस अदर्शन अर्थात् अज्ञान का अभाव होने से, बुद्धि और पुरुप के संयोग का अभाव होता है अर्थात् आत्यन्तिक बन्ध की निवृत्ति होती है यह अर्थ है यही हान है वही दृशी चैतन्य आत्मा का कैवल्य है जो पुरुष की असंगता यानी किसी से मिश्रित न होना है फिर गुणों के संयोग से रहित होकर रहना है ॥ दुःख के कारण की निवृत्ति होने से दुःख की निवृत्ति रूप हान होती है तव "पुरुप स्वरूप में स्थित है" ऐसा कहा जाता है ॥

मूलः— विवेकख्याति रविप्लवा हानो पायः ॥ २६ ॥

अर्थः—अविसवा विवेकख्याति हानो पायः—सँशय विपर्यय रूप

विप्लव अर्थात् उपद्रव से रहित जो विवेक दर्शन है सो अविद्या दुःख निवृत्ति रूप हान यानी मोक्ष का उपाय है ॥ बुद्धि और पुरुष का प्रथक् २ करके जानना विवेकख्याति है और वह तो मिथ्या ज्ञान के निवृत्त न हने से उपद्रव करती है, जब मिथ्या ज्ञान यानी अविद्या रूप विपर्यय बीज संस्कार रूप अज्ञान सहित दग्ध होकर के, रचना की सामर्थ्य से रहित होता है, तब विघ्न क्लेश रूप मल वाली बुद्धि की अत्यन्त स्वच्छता के होने पर, अपर वैराग्य के वशी कार संज्ञा को प्राप्त होने पर, विवेक ज्ञान का प्रवाह निर्मल होता है, वह विवेकख्याति (संशय विपर्यय विप्लव) उपद्रव से रहित, मोक्ष का उपाय है ॥

मूलः तस्य सप्तधा प्रान्त भूमि प्रज्ञा ॥ २७ ॥

अर्थः—उस विवेकख्याति वाले (आत्मसाक्षात्कारवान्) पुरुष की सप्त प्रकार की काष्ठा को पहुंचाने वाली अर्थात् ज्ञान की सीमा को पहुंचाने वाली प्रज्ञा होती है ॥

टीकाः—अशुद्धि और आवरण और मल के निवृत्त होने से, चित्त की आत्माकार वृत्ति से इतर वृत्तियों की उत्पत्ति का अभाव होने पर, विवेकी के सप्त ७ प्रकार की प्रज्ञा होती हैं वह इस प्रकार है:—प्रथम चार प्रकार की कार्य विमुक्ति कहलाती है—(१) जो जानने योग्य था सो जान लिया अब इसको कुछ जानने योग्य शेष नहीं रहा, इसको ज्ञात ज्ञातव्यता कहते हैं, इससे जिज्ञासा की निवृत्ति होती है ॥ (२) हेय जो दुःख संसार या विक्षेप है उसका हेतु जो दृष्टा दृश्य का संयोग और उसका कारण अविद्या है, उन का क्षय हो चुका अब उनका नाश होना नहीं रहा। यह हतहातव्यता है यानी जिहासा की निवृत्ति है ॥ (३) निरोध समाधि से हान (जो कैवल्य मोक्ष है यानी हेय की निवृत्ति हुये पुरुष चिति की जो स्वरूप में स्थिति है उस) का साक्षात्कार कर लिया ॥ यह प्राप्त प्राप्तव्यता है इससे प्रेप्सा की निवृत्ति कही ॥ (४)- विवेकख्याति रूप हान का उपाय निश्चय किया, यह कृत कृत्यता है इससे चिकीर्षा की निवृति होती है यह कार्याविमुक्ति कहीं अब प्रज्ञा की चित्त विमुक्ति कहते हैं सुनो:- (५) चरित अधिकार वाली मुक्ति अर्थात् जब

बुद्धि की क्रिया का और भोग का अधिकार समाप्त हो चुका वैसी बुद्धि की स्थिति ॥ (६) बुद्धि गुणा मुक्ति अर्थात् जब पहाड़ की चोटी से गिरे हुए पत्थर की न्याई संस्कार निरोधाभिमुख हुए बुद्धि सहित अन्तर प्रकृति में लीन होते चले जाते हैं और मिट जाते हैं और तब उन प्रलीन हुए हुए जनों की पुनरावृत्ति नहीं होती वैसी बुद्धि की स्थिति बुद्धि गुणा विमुक्ति है ॥ क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं रहा ॥ (७) प्रज्ञा गुण-सम्बन्धातीता मुक्ति है इस अवस्था में स्वरूप मात्र ज्योति शुद्ध मल रहित, गुण सम्बन्ध से अतीत केवली पुरुष है ॥

इस सप्त प्रकार की अवस्था रूप मुक्ति वाली प्रज्ञा को गुरुशास्त्र के अनुसार जानता हुआ पुरुष, कुशल कहलाता है ॥ चित्त के उल्टे परिणाम से प्रकृति में लीन होते हुये भी मुक्त कुशल होता है क्यों कि गुणातीत यानी असङ्ग होकर रहता है ॥ इससे सिद्ध होता है कि विवेक-ख्याति हान का उपाय है ॥ अब उसके साधन कहते हैं :—

मूलः—योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धि क्षये ज्ञान दीप्ति राविवेक ख्यातेः ॥ २८ ॥

अर्थः "योगाङ्ग अनुष्ठानात् अशुद्धि क्षये"—योग के अष्ट अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि के नाश होने पर "ज्ञान दीप्तिः अविवेक ख्यातेः" =ज्ञान का प्रकाश होता है विवेकख्याति पर्यन्त अर्थात् जब तक सम्पूर्ण विवेक ख्याति प्राप्त न हो जावे तब तक ॥

टीकाः—योग के ८ अङ्ग जो आगे हम कहेंगे उनके अनुष्ठान से अविद्या अस्मिता आदि पंच क्लेश रूप गांठों यानी विभाग वाले अशुद्धिरूप विपर्यय का नाश होता है, उसके नाश हाने से सम्यक् ज्ञान का प्रकाश होता है ॥ जैसे २ साधनों का अनुष्ठान होता है वैसे २ अशुद्धि की सूक्ष्मता होती है यानी उसका विनाश होता है, जैसे २ क्षय होता जाता है उस क्षय के क्रम के अनुसार ज्ञान वढ़ता जाता है जब तक पूर्ण वि वेक ख्याति प्राप्त हो तब तक ॥

मूलः—यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा

ध्यान समाधयो ऽष्टावङ्गानि ॥ २६ ॥

अर्थः–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और संप्रज्ञात समाधि–यह आठ समाधि के अङ्ग अर्थात् साधन हैं ॥ इनके अभ्यास से अशुद्धि के नाश होने पर ज्ञान होता है ॥

मूलः– अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः ॥३०॥

अर्थः– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, यह पांच यम हैं ॥ (इनमें से अहिंसा सब यमों में प्रधान है) ॥

टीकाः– (१) अहिंसा=सर्व प्रकार से, सर्व काल में, सर्व प्राणियों के साथ अभिद्रोह अर्थात् परघात का, न होना अहिंसा है ॥ (२) सत्य= यथावत् अर्थ में मन वाणी की प्रवृत्ति से, जैसा देखा जैसा अनुमान किया और जैसा सुना वैसा मन वाणी का व्यापार होना, सत्य है ॥ यदि ऐसा कथन किसी प्राणी के अभिघात के लिये हीं हो तो वह सत्य नहीं है पाप रूप ही है, तिस आभास मात्र पुण्य से उस सत्य को पुण्य के विरोधी होने से महाकष्ट की प्राप्ति होगी, इस लिए विचार करके सर्व प्राणियों के हितकारी सत्य का कथन करना योग्य है ॥ (३) अस्तेय= अशास्त्र पूर्वक, द्रव्य का परजन से स्वीकार कर लेना यानी अपहरण कर लेना या ले लेना स्तेय है उस स्तेय का विरोधी पुनःनिषेध, अस्पृहा- रूप अस्तेय है । (४) ब्रह्मचर्य=गुप्त इन्द्रिय उपस्थ का संयम ब्रह्मचर्य है॥ (५) अपरिग्रह=विषयों के उपार्जन, रक्षण, क्षय, संगदोष और हिंसा इन दोषों को देख कर जो उनका स्वीकार न करना है, सो अपरिग्रह है ॥ यह पांच यम कहे ॥ (अब भी जो लोग कोई कोई गृहस्थ वा सन्यासी वस्तुतः जितना यमादिक का पालन करते हैं वैसी ही सफलता भी देखने में आती है ॥)

मूलः––जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः सार्व भौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

अर्थः–यह यम, यदि जाति, देश, काल और निमित्त से बिछुड़ न गये हों, चारो अवस्थाओं में यानी सब जातियों में सब देश में, सब

काल में, और सब निमित्तों के वर्तमान हुए भी सदा एकरस वर्तते हों सो महाव्रत्त हैं ॥)

टीका:-मैं केवल मत्स्य जाति की ही, आहार के वास्ते हिंसा करूंगा अन्यत्र कहीं नहीं करूंगा, ऐसी अहिंसा, जाति के विच्छेद वाली अहिंसा है ॥ मैं तीर्थ में हिंसा नहीं करूंगा, तीर्थ से अन्यत्र ही करूंगा ऐसी अहिंसा देशावच्छिन्न अहिंसा है ॥ मैं चतुर्दशी आदिक पुण्यकाल में नहीं हनन करूंगा यह अहिंसा कालावच्छिन्न है ॥ मैं त्रिकाल संध्या के समय नहीं हनन करूंगा यह समयावच्छिन्न अहिंसा है ॥ मैं देवता ब्राह्मणार्थ छोड़ कर अथवा युद्धकाल को छोड़ कर अन्यत्र हिंसा नहीं करूंगा इत्यादिक निमित्त वाली नियम बद्ध अहिंसा हैं, इन्हीं से अतिरिक्त एक रस रहने वाली, सर्वदा सर्वथा सर्वत्र सर्व के लिये रहने वाली अहिंसा सार्वभौम महाव्रत है ऐसे ही सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह रूप यमों में सार्वभौम महाव्रतका नियम जानलेना परन्तु यथा शास्त्र हो ॥

मू:—शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

अर्थ:-शौच सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान यह पांचो नियम कहलाते हैं ॥ (१) अन्तर रागद्वेष मल की निवृति और बाह्य जल प्रक्षालन आदि से देह वस्त्र पात्रादिकों के मलकी निवृति शौच है ॥ (२) यथा शास्त्र यदृच्छा लाभ में प्रसन्नरहना सन्तोष है ॥ (३) द्वन्द्वोंका सहन तप है अर्थात् शीत उष्ण मान अपमान, स्तुति निन्दा इत्यादिक जो विरोधी ताप हैं उनको उपेक्षाकी दृष्टिसे वर्तलेनातप है ॥ (४) मोक्ष शास्त्र का नित्य अवलोकन करते रहना स्वाध्याय है ॥ (५) कायक वाचक मानसिक क्रियाओं का ईश्वर की आज्ञा के अनुसार वर्तना और उन क्रियाओं कोई ईश्वरार्पण करना ईश्वरप्रणिधान है तथा ईश्वरकी कायक वाचक मानसिक भक्ति विशेष ईश्वरप्रणिधान हैं सो पूर्वक कहचुके हैं ॥ यह पांचों नियम हैं ॥ (इन के अभ्यास से जो फल होता है वह आगे कहेंगे, यह दशोंयम नियम योगीके लिये आवश्यक

योगके साधन हैं परन्तु यमों के सेवन के बिना नियमों का सेवन करना अथवा उन से अपने आप को कृतार्थ मानना व्यर्थ है क्यों कि यमों के अनुष्ठान के बिना नियम प्रतिष्ठत नहीं रह सकते प्रत्युत दंभ गर्व अहंकारादिक की वृद्धि को प्राप्त करेंगे इसी लिये आचार्य ने कहा है कि:-यमों का निरन्तर सेवन करो नियमों को ही प्रथम आगे से न सेवन करो क्यों कि केवल नियमों को सेवन करने वाला और यमों को न सेवन करने वाला पुरुष पतित होता है ॥)

मूल:—वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम् ॥ ३३ ॥

अर्थ:-वितर्क यमादिकों के विरोधी जो हिंसा आदिक हैं, उन के निवृत्त करने के वास्ते उनमें दोष दर्शन कराने वाली और दुःख फल बोधन करने वाली तथा विरोधी पक्ष वाली जो अहिंसा आदिक और शौचादिक हैं उन साधनों के अनुष्ठान की भावना करनी योग्य है ॥

मूल:—वितर्क हिन्सादयः कृत कारितानुमोदिता, लोभ क्रोध मोह पूर्वका मृदु मध्याधि मात्रा, दुःखा ज्ञानानन्त फला इति प्रति पक्ष भावनम् ॥ ३४ ॥

अर्थ:—वितर्क हिंसादिक दसों दोष स्वयं किये हों अथवा किसी से कराये गये हों अथवा अनुमोदन किये हुए हों वे एक एक, लोभ, वा क्रोध, वा मोह सहित, हों, तथा वे एक एक भेद वाले, मृदु वा मध्य वा अधिमात्र रूप हों इस प्रकार वे ८१ भेद वाले, दोष, सब दुःख और अज्ञान वा अनन्त आयुष, भोग और निन्दित योनी रूप फल देने वाले हैं इस प्रकार की वैराग जनक और भय जनक भावना जो उन दोषों को छुड़ाने वाली है सो प्रति पक्ष भावना है ॥

मूल:—अहिन्सा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः ॥ ३५ ॥

अर्थ:-अहिंसा के प्रतिष्ठित होने पर अर्थात् सार्वभौम होने पर उसकी समीपता में (मूषक विलाव आदि के वा परस्पर शत्रु गणों के) विरोधियों के वैर का त्याग हो जाता है ॥ (इसी कारण से अमेरिका वाले कई जन महात्मा गांधी को दूसरा ईसामसीह कहते हैं) ॥

मूल:—सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फला अयत्वम् ॥ ३६ ॥

अर्थः—सत्य की प्रतिष्ठा हुए योगी को क्रिया के फल की आश्रयता हो जाती है अर्थात् वह योगी स्वयं उस स्वर्गादि फल को अपनी वाणीं के वरमात्र से प्रदान कर सकता है जो यज्ञादि अनुष्ठान से प्राप्त हुआ करता है ॥ जैसे कि यदि वह कहे "हे धार्मिक तेरे लिए ऐसा हो" तो वैसे ही हो जाता है "तू स्वर्ग गामी हो" एसा कहने से अवश्य वैसा ही हो जाता है ॥ (स्वामी विवेकानन्द स्वामी राम तीर्थ-महात्मा गांधी स्वामी दयानन्द आदिकों के उपदेश के प्रभाव प्रत्यज्ञ हैं) ॥

मूल:—अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्व रत्नो पस्थानम् ॥ ३७ ॥

अर्थः—अचौरता वा अपरिग्रह से अस्तेय के प्रतिष्ठित होने पर सर्व रत्नों की उपस्थिति होती है ॥ (वेईमानी के कारण ही साख नहीं व्यापार नहीं व्यवशाय नहीं विश्वास नहीं परन्तु दरिद्रदा बढ़ती जाती है कचहरी भरी रहती हैं) ॥

म ल:—ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्य लाभः ॥ ३८ ॥

अर्थः—ब्रह्मचर्य्य की प्रतिष्ठा के होने पर शक्ति विशेष का लाभ होता है, जिस से कि विना किसी विरोध के गुणों को बढ़ाता है और सिद्ध होकर शिष्यों को ज्ञान देने में समर्थ होता है ॥ (ब्रह्मचर्य, वारह १२ वर्ष की आयुष से ही पाठशाला स्कूल कालिजों में ही परस्पर के विचित्र कुसंग से और अध्यापकों की नीचता से भी नष्ट होता देखा गया है यह बात विचारने योग्य हैं) ॥

मू लः—अपरिग्रहस्थैर्ये जन्म कथंता संवोधः ॥ ३९ ॥

अर्थः—अपरिग्रह के स्थिर होने पर, जन्म किस प्रकार से हुआ इत्यादिक ज्ञान हो जाता है, अथवा शरीर रूप परिग्रह से भी रहित होकर अपने को सर्वदा असंग (अज) जान लेता है ॥

टीकाः—उस योगी को जो हुवा करती है अपने स्वरूप के जानने की इच्छा कि मैं कौन था कैसे था, यह क्या है कैसे है, मैं क्या होऊंगा इत्यादि सब आगे पीछे मध्य कीजिज्ञासा, स्वरूप के ज्ञान से निवृत्त हो

जाती है ॥

मूल:—शौचात्स्वांग जुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

अर्थः—बाह्य शौच से अपने अँगों में ग्लानी और पर से असंसर्ग होता है ॥ (ढौंग रचना अत्याचार शौच नहीं है) ॥

मूल:—सत्व शुद्धि सौमनस्यैकाग्रयेन्द्रिय जयात्मदर्शन योग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

अर्थः—अन्तर मन के शौच से अर्थात् मैत्री करुणादिक भाव रूप शौच से, अन्तः करण की शुद्धि एकाग्रता, इन्द्रियों का जय, तथा आत्मदर्शन की योग्यता होती है (मानसिक शौच न होने से ही धर्म की और भक्ति की आड़ में व्यभिचारादि दोष होते हैं)।

मूल:—सन्तोषादनुत्तम सुख लाभः ॥ ४२ ॥

अर्थः—सन्तोष से सर्व से उत्तम सुख का लाभ होता है सो कहा है:-जो संसार में काम का सुख है जो स्वर्ग का महान सुख है, सो त्रष्णा के नाश के सुख के सोलहवें भाग के भी तुल्य नहीं है ॥ ४२ ॥ (भीतर मन में लालसा परन्तु प्रमाद वश अकर्मण्या संतोष नहीं है ॥)

मूल:—कायेन्द्रिय सिद्धि रशुद्धि क्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

अर्थः—तपसः, अशुद्धि क्षयात्, कायेन्द्रिय सिद्धिः=प्रतिष्ठित तप से अशुद्धि के अर्थात् आवरण तथा मल के नाश होने से अणिमादि जो काया की सिद्धियां है और दूर से श्रवण दर्शनादि जो इन्द्रियों की सिद्धियां हैं वे प्राप्त होती हैं ॥ (दंभपूर्वक कठोर दृश्य दिखाना तप नहीं है।)

मूल:—स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः ॥ ४४ ॥

अर्थः—स्वाध्याय से इष्ट देवता की प्राप्ति होती है, देवता सिद्धादिक का दर्शन होता है वे उसका काम करते हैं ॥

मूल:—समाधि सिद्धि रीश्वर प्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वर प्रणिधान से समाधी की सिद्धि होती है ॥ बगुला भक्ति

ईश्वर प्रणिधान नहीं है।)

मूलः—स्थिर सुखमासनम् ॥ ४६ ॥

जिस में अचल होकर, सुख पूर्वक, बैठ सको, वह बैठक, आसन है॥ अब आसन के जो दृष्ट और अदृष्ट विघ्न हैं उनकी निवृत्ति के उपाय को कहते हैं—

मूलः—प्रयत्न शैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

अर्थः—प्रयत्न की शिथिलता से अर्थात् परिश्रम करना छोड़ देने से और अनन्त में धारणा के अभ्यास से कि "मैं शेष हूं सब का धारण करके अचल स्थित हूँ" चलते फिरते इस दृढ़ भावना से, आसन की सिद्धि होती है॥ स्थिरता की दृढ़ भावना से स्थिर बैठने लगता है॥

मूलः—ततोद्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

अर्थ—ततः=उस आसन के जय होने से॥ द्वन्द्वानभिघातः= यथा पूर्व द्वन्द्वों से पीड़ित नहीं होता॥

मूलः—तस्मिन्सति श्वास प्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

अर्थः—उस आसन जय के होने से, श्वास और प्रश्वास की स्वाभाविक गति का अभाव रूप प्रायाणाम होता है अर्थात् श्वास प्रश्वास अत्यन्त सूक्ष्म गतिवान क्षीणवत् प्रतीत होते हैं (ऐसा न हो तो मृत्यु हो जावे क्यों कि श्वास का अत्यन्ता भाव मृत्यु का चिन्ह है)॥

मूलः—बाह्याभ्यन्तर स्तंभ वृत्ति देश काल संख्याभिः परिदृष्टा दीर्घ सूक्ष्मः ॥ ५० ॥

अर्थः—प्राणायाम, रेचक पूरक कुम्भक, तींन प्रकार का होता है द्वादश अंगुल पर्यन्त इत्यादि देश और इतने क्षण मुहूर्त्त इत्यादि काल और इतने प्रणव का जप इत्यादिक संख्या से परिक्षित हुवा, दीर्घ और सूक्ष्म होता है॥

मूलः—बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

अर्थः—रेचक पूरक विषय के अनादर वाला और वाह्य अभ्यन्तर कुम्भक की अपेक्षा रहित चतुर्थ प्रकार का प्रायाणाम, जहां का तहां स्तम्भ हो जाना, केवल कुम्भक है ॥

मूलः—ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

अर्थः—उस प्राणायाम से, बुद्धि सत्व रूप ज्ञान प्रकाश को ढकने वाले तम का नाश होजाता है ॥

टीकाः—प्राणायामों के अभ्यास से, इस योगी के, विवेक ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म का नाश हो जाता है सो कहते हैं:—महा मोहमय इन्द्रजाल से. प्रकाशमान बुद्धि के ज्ञान को ढक कर उसको अकार्य में नियुक्त करके, वह उसके ज्ञान को दबाने वाला कर्म, संसार निमित्तक हो जाता है, परन्तु प्रायाणाम के अभ्यास से वह कम, दुर्बल हो जाता है, और क्षण २ में क्षीण होता रहता है, इसी बात को आचार्य ने कहा है:- प्रायाणाम से अधिक उत्कृष्ट साधन और कोई नहीं है, उससे मलों की अत्यन्त शुद्धि यानी निवृत्ति होती ह और ज्ञान का प्रकाश होता है ॥

मूलः—धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

अर्थ—और प्रायाणाम से मनकी धारणा में योग्यता होती है ॥

मूलः—स्वविषया संप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

अर्थः—स्वविषय असंप्रयोगे=इन्द्रियों का अपने शब्द आदिक विषयों के साथ, सम्बन्ध का अभाव होने पर ॥ चित्तस्य स्वरूपानुकार इव=जैसा चित्त का निरोध काल में स्वरूप होता है उस की न्याईं, अपने अपने विषयों को छोड़ कर स्व स्व गोकल में स्थिति पूर्वक, निरुद्ध वत्त आकारवान् होना ॥ इन्द्रियाणां प्रत्यहार=इन्द्रियों का प्रत्याहार है ॥

टीकाः—अपने विषय के साथ सम्बन्ध का अभाव होने पर यानी चित्त के निरोध की न्याई इन्द्रियों के निरुद्ध होने पर, न कि जैसे विजित इन्द्रियता का उपाय होता है वैसे किसी उपाय की अपेक्षा है,

किन्तु जैसे मधुकर राज के पीछे उसके अनुसार ही मक्षिका निकलती हैं नहीं तो निरुद्ध होती हैं उनकी न्याईं, इन्द्रियां चित्त के निरुद्ध होने से निरुद्ध हो जाती हैं यह उन इन्द्रियों का प्रत्याहार है ॥

मूलः—ततः परमावश्येन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

अर्थः—उस प्रत्याहार से, इन्द्रियों की अपने अपने विषय शब्दादिकों में प्रवृत्ति का अभाव होता है अर्थात् इन्द्रियां परम बश में हो जाती हैं ॥ ५५ ॥

इस दूसरे क्रिया पाद में, विक्षिप्त चित्त वाले पुरुष के प्रति, समाधि प्राप्ति के साधन, अष्ट अंग वाले योगानुष्ठान का निरूपण किया, शेष के तीन साधन धारणा ध्यान समाधि का निरूपण करना अभी रहता है सो तृतीय विभूति पाद में निरूपण करेंगे ॥ विभूति पाद में आगे चित्त शुद्धि द्वारा होने वाले ऐश्वर्य और ज्ञान का जो कथन करेंगे, उसका यह तात्पर्य्य है कि विभूति को भी ईश्वर का अंश मात्र होने से, उसकी प्राप्ति भी ईश्वर प्राप्ति के मध्य उन्हीं साधनों से होती है ॥ जिनको विभूति की इच्छा हो वे उसी कामना से योग साधन करके एकाग्र चित्त से अवलोकन यानी धारणा, तन्मयता यानी ध्यान और समाधि यानी साक्षात्कार से वांछित कामना की प्राप्ति कर सकते हैं परन्तु ईश्वर प्राप्ति में यह बाधक हैं ॥ ईश्वर की प्राप्ति की इच्छा वालों को तो उससे भिन्न सब कामनाओं का परवैराग पूर्वक निरोध करना होगा ॥ ज्ञाततः प्राप्त हों अथवा अज्ञाततः प्राप्त हो जावें सब विभूति रूप सिद्धियां अविद्या का कार्य है दुःख रूप है और हेय है, इस लिए विवेकख्याति द्वारा हातव्य है और परमात्मा में स्थिति रूपी हेय की हान होना आवश्यक है, यही कैवल्य मोक्ष है ॥ जिनको विभूति ही इष्ट है वे यूरुप वालों की न्याईं भौतिक विज्ञान रूप विभूतियों का सम्पादन करें और शिक्षा के लिये विद्यालय खोलें परन्तु साधन वही यम नियम आसन पूर्वक तत्परता है ॥

॥ श्री मङ्गल मूर्त्तये नमः ॥

अथ श्री पातञ्जल योग दर्शनं

तृतीयः विभूति पादः ॥



मूलः—देश वंधश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

अर्थः—ध्येय रूप देश के साथ, वृत्ति मात्र से चित्त का जो सम्वंध यानी बांधना है, सो धारणा है ॥ १ ॥

मूलः—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

अर्थः—उस ध्येय में, वृत्तियों का, समानाकार एक रस, सजातीय प्रवाह, ध्यान है ॥ २ ॥

मूलः—तदेवार्थ मात्र निर्भासं, स्वरूपशून्यमिव समाधिः ३॥

अर्थः—वह ध्यान ही, केवल अर्थ मात्र ध्येय के आकार से भासमान, आप स्वरुप रहित की न्याईं "अर्थात् मैं ध्येय में समाधिस्थ हूं" इस अपनी भावना से रहित, वुद्धि की अवस्था, समाधि है ॥

मूलः—त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

अर्थ—धारणा ध्यान और समाध तीनों मिला कर संयम कहलाते हैं ॥ ४ ॥ (आंखें वंद करके वैठना ही संयम नहीं है, जैसे एक ध्यान का अभ्यास मानसी क्रिया मात्र होने से वैठ कर किया जाता है वैसे खड़े होकर भी हो सकता है, चित्त की दृढ़ लग्न आवश्यक है ॥)

मूलः—तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

अर्थ—उस संयम के जय से अर्थात् सिद्ध होने से, प्रज्ञा का स्पष्ट होता है ॥ केवल ध्येय में जो वुद्धि की स्थिति है सो प्रज्ञा लोक है ॥ ५ ॥

मूलः—तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

अर्थः—उस संयम का गृहिता अर्थात् ज्ञाता अहंकार में, ग्रहण अर्थात् ज्ञान में और ग्राह्य अर्थात् ज्ञेय विषय को लेकर, सवितर्क निर्वितर्कादि ८ अष्ट भूमियों में विनियोग अर्थात् अभ्यास किया जाता है ॥

अन्यत्र लिखा है कि:—योग द्वारा याग ज्ञातव्य है अर्थात अभ्यास से अनुभूत होता है, योग से योग प्रवृत्त होता है अर्थात् अभ्यास से ही योग के मार्ग की परंपरा चलती है जो योगाभ्यास द्वारा प्रमाद रहित होता है वह पुरुष दीर्घ काल तक योग में रमण करता है अर्थात् उसका सुख लेता है ॥ ६ ॥

मूलः—त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

अर्थः यह तीनों धारणा ध्यान समाधि, यम नियमादि पांचों साधनों से अन्तरङ्ग साधन है अर्थात् सबीज संप्रज्ञात समाधि के समीप के साधन हैं ॥ ७ ॥

मूलः—तदपि वहिरंगं निर्वीजस्य ॥ ८ ॥

अर्थः—वह धारणादिक तीनों साधनों का समुदाय भी निर्वीज असंप्रज्ञात समाधि का बहिरङ्ग साधन हैं ॥ जो सवितर्क निर्वितर्क आदिकों की संप्रज्ञात समाधि थी, वह सजीव कही थी, और उस के भी निरोध से परवैराग द्वारा प्राप्त निर्वीज समाधि कही थी सो कैवल्य रूप है ॥ ८ ॥

मूलः—व्युत्थान निरोध संस्कारयो रभिभव प्रादुर्भावौ निरोध क्षण चित्तान्वयो निरोध परिणामः ॥ ९ ॥

अर्थः—व्युत्थान संस्कार का तिरस्कार और निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव हुए निरोध युक्त क्षण से चित्त के सम्बंध वाला, चित्त का निरोध परिणाम होता है ॥ ९ ॥

मूलः—तस्य प्रशान्त वाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

अर्थ—पूर्ण निरोध के संस्कारों से, उस निरुद्ध चित्त के संस्कारों

का प्रशान्त वाहिता रूप परिणाम होता है ॥ (जैसे ईंधन पड़ना बन्द होकर, अग्नि शान्त होती चली जाती है इसी प्रकार वृत्तियों के क्षय होने से संस्कार अन्तर बाधित होते चले जाते हैं और स्वरूप भूत शान्ति आविर्भूत होती जाती है) ॥ १० ॥

मूलः—सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्यसमाधि परिणामः ॥ ११ ॥

अर्थः—सर्वार्थता अर्थात् उत्थान के क्षय होने पर और एकाग्रता के उदय होने पर चित्त का समाधि परिणाम होता है ॥ ११ ॥

मूलः—शान्तोदितौ तुल्य प्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ॥ १२ ॥

अर्थः—शान्त अर्थात् भूतकाल और उदित अर्थात् वर्तमान काल इन दोनो काल के संस्कारों के तुल्य होने पर अर्थात् सजातीय प्रवाह होने पर चित्त का एकाग्रता परिणाम होता है ॥ १२ ॥

मूलः—एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्म लक्षणावस्था परिणामा व्याख्याता ॥ १३ ॥

अर्थः—इस चित्त के परिणामप्रदर्शन से, भूत इन्द्रियों के धर्म परिणाम (जैसे मृत्तिका के घट कपालादिक हैं ऐसे ही भूतों और इन्द्रियों के कार्य परिणाम होते हैं) और लक्षण परिणाम (जैसे वस्तुओं के भूत भविष्यत वर्तमान कालीन होते हैं, ऐसे ही भूत इन्द्रियों के सामयिक परिणाम होते हैं सो लक्षण परिणाम हैं) तथा अवस्था परिणाम (जैसे वस्तु की नवीनता जीर्णता आदिक है ऐसी ही भूत और इन्द्रियों की होती हैं) यह भी कह दिए गए हैं ॥ १३ ॥

मूलः—शान्तोदिता व्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

अर्थः—शान्त अर्थात् भूत उदित अर्थात् भविष्यत और व्यपदेश्य अर्थात् वर्तमान धर्मों में, अन्वयी अर्थात् एक समान वर्तने वाला, धर्मी कहलाता है ॥ जैसे चित्त सर्व अवस्था में अन्वयी होने से धर्मी

है और सत्व रज तमादिक उस के धर्म हैं, ऐसे ही आत्मा धर्मी हैं और कर्तृत्व भोक्तृत्व शुद्धाशुद्ध चित्त रूप धर्म आरोप किये जाते हैं ॥ १४ ॥

मूलः—क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

अर्थः—क्रम का भेद परिणाम के भेदों में कारण है ॥ जैसे घट की उत्पपत्ति से पहले मृत्ति का पिण्ड होता है पीछे घट होता है यह मृत्तिका के घट परिणाम में क्रम सर्वदा रहता है इसी प्रकार घट के परिणाम रूप कपालों में प्रथम घट पीछे कपाल यह क्रम सर्वदा रहता है ॥ परिणाम के भेद में यही क्रम का भेद सर्वदा हेतु है ॥ १५ ॥

मूलः—परिणाम त्रयसंयमादतीतानागत ज्ञानम् ॥ १६ ॥

अर्थः—धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम इन तीनों परिणामों में संयम करने से, भूत भविष्यत् का ज्ञान होता है ॥ (जैसे कि, विचार किया कि वर्षा ऋतु के समय जब कीट पृथ्वी में से नवीन मृत्तिका बाहर निकालते हों तो वर्षा होने वाली होती है अथवा मेंढक बहुत बोलते हों तो वर्षा का आगमन होता है ॥ कितनेही चिन्हों से दुर्भिक्षका आगम ठीक ठीक अनुमान कर लिया जाता है, चिन्ह देख कर जान लिया जाता है कि देश में आपत्ति आवेगी जैसे कि महाभारत के युद्ध से पूर्व चिन्ह देखे जाते थे वे लिखे हैं, वैसे ही चिन्ह पिछली संसार की लड़ाई में भी देखे जाते थे, जैसे सम्पूर्ण कुत्तों का एक साथ रोना भीषण उलका पात होना, इसी प्रकार मृत्यु के आगम के भी चिन्ह लिखे हैं ॥ मनुष्यों के पूर्व जन्म के वृतान्त ज्योतिष से जान लिये जाते हैं और स्वभाव लक्षण, आकृति से, जान लिये जाते हैं, स्वभाव और लक्षणों और अवस्था के परिणाम विचार में अब भी कुशल विद्वान देशों के भावी पतन और जागृति का अनुमाम कर लेते हैं यही त्रिकालज्ञता है ॥ १६ ॥

मूलः—शब्दार्थ प्रत्ययानामितरे तराध्यासात् सङ्कर स्तत् प्रविभागसंयमात् सर्व भूत रुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

अर्थः—शब्द, अर्थ और उनसे जो वृति ज्ञान होता है इन तीनों के परस्पर के अभ्यास से इनका सङ्कर यानी मेल होता है, उनके भिन्न२ धर्मों में संयम से, सर्व प्राणियों (पक्षि आदिकों की) वाणी का ज्ञान होता है ॥ (अभ्यास से वनवासी जातियों को कूकर शृङ्गालादि पशु और काग कोयल मयूरादि पक्षियों के भिन्न २ काल के भिन्न २ आकार के शब्दों के सुनते २ उनके भावों के जानने का ज्ञान हो जाता है॥१७॥

मूलः-संस्कार साक्षात्करणात् पूर्व जाति ज्ञानम् ॥ १८ ॥

अर्थः- संस्कारों में संयम के अभ्यास द्वारा, संस्कारों का साक्षात्कार करने से पूर्व जाति का ज्ञान होता है ॥ (जैसे किसी राजा की विशेष रुचि, अन्य सब क्षत्रियों के धर्मों से हट कर कृषी गोरक्ष वाणिज्य की ही ओर प्रवृत्त हो तो समझना चाहिए कि पूर्व जन्म में यह किसी पुण्यात्मा वैश्य के गृह में था ॥ किसी अब्राह्मण जाति के बालक में स्वभाविक शौच तप स्वाध्याय, भक्ति आदिक साधनों की ओर रुचि हो अन्य स्व वर्णाश्रम धर्म की ओर रुचि विशेष न हो तो समझा जाता है कि पूर्व यह बालक किसी योगी वा तपस्वी के गृह में होगा इत्यादिक सर्वत्र जान लेना ॥

टीकाः—भगवान् आवटय ने जैगीषव्य मुनि से पूछा कि इस आयुष की अपेक्षा से प्रधान प्रकृति को वश करना और सन्तोषादि, सब से उत्तम सुख कहे हैं. यह भी तो "सब दुःख रूप है" इस कथन के भीतर ही आगये तो उत्तम सुख कैसा है ? भगवान् जैगीषव्य बोले कि विषय सुख की अपेक्षा से सन्तोष के सुख को उत्तम कहा था परन्तु कैवल्य की अपेक्षा से तो सन्तोष सुख भी दुःख रूप ही है, क्यों कि बुद्धि सत्व का एक धर्म सन्तोष भी है, तीनों गुण बुद्धि के ही धर्म हैं और त्रिगुणात्मक ज्ञान, हेय कोटि में ही गिना जाता है ॥

मूलः—प्रत्ययस्य परचित्त ज्ञानं ॥ १९ ॥

अर्थः—वृत्ति ज्ञान में संयम करने से, अर्थात वृत्तियों के गुण स्वभाव परिणाम में, धारणा ध्यान समाधि के अभ्यास से वृत्ति ज्ञान के अनुभव साक्षात्कार करने से, पर चित्त का ज्ञान हो जाता है ॥ यह भी

बुद्धिमानों के लिये सहज है मुख की आकृति के अनुसार पर चित्त के भाव जान लिये जाते हैं उस से चित्त के स्वभाव का ज्ञान हो जाता है ॥ १६ ॥

मूलः—न च तत्सालम्बनं तस्याविषयी भूतत्वात् ॥ २० ॥

अर्थः—और वह प्रत्यय भी आलंबन सहित नहीं है अर्थात विषय सहित नहीं है उस विषय को, योगी के चित्त का विषय न होने से ॥ अर्थात् प्रत्यय मात्र का ही, संयम अभ्यास और साक्षात्कार होता है विषय का नहीं ॥ यह तात्पर्य्य है कि भाव का पहिचानने के अभ्यास से, विशेष विषय को छोड़ कर भाव जान लिया जाता है कि उत्तम है याकनिष्ट है, भाव अनुकूल है वा प्रतिकूल है, इत्यादिक ज्ञान हो जाता है) ॥ २०

मूलः—कायरूपसंयमात्तद् ग्राह्य शक्ति स्तंभे चक्षुः प्रकाशा संप्रयोगे ऽन्तर्द्धानम् ॥ २१ ॥

अर्थः—काय के रूप में संयम से अर्थात रूप मात्र में धारणादिक के अभ्यास से, रूप की ग्रहण होने योग्य शक्ति के स्तंभ यानी निरुद्ध हो जाने से चक्षु और प्रकाश का सम्बन्ध न होने से, अन्तर्द्धान हो जाता है अर्थात नेत्रों से नहीं दीखता यद्यपि स्पर्श में आता है ॥ इसी प्रकार स्पर्श मात्र में संयम से स्पर्श में नहीं आता परन्तु दीखता है यह जानना चाहिये ॥ तात्पर्य्य यह है कि मानों किसी ने अपने रूप मात्र में संयम किया कि रूप मात्र से इतर विभाग युक्त मेरा अपना प्रथक आकार किसी को दृष्टि गोचर नहो, इस सङ्कल्प के दृढ़ हो जाने से उस की भावना का प्रभाव अन्यों के चित्तों पर ऐसा पड़ जाता है कि औरों के चित्त, उतने मात्रके अनुभव की स्वशक्ती को प्रगट नहीं कर सकते, क्योंकि योगी के बलिष्ट चित्त से अन्य चित्त दब जाते है, इस लिये उस योगी का शरीर दिखाई न देगा ॥ मन्त्र पढ़ के झाड़ने से बिच्छू की डंक की पीड़ा की निवृत्ति तथा दांत की कील देने से पीड़ा की निवृत्ति तथा मेस्मेरिज्म से पीड़ा की निवृत्ति बहुधा देखने में आती है तद्वत

जान लेना॥ बहुत अमरीका वाले Hypnotism अभ्यास करते हैं॥

मूलाः--सोपक्रमं निरुपक्रमंच कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञान मरिष्टेभ्यो वा॥ २२॥

अर्थः—सोपक्रम अर्थात् शीघ्र फल देने वाला और निरुपक्रम अर्थात् देर में फल देने वाला कर्म होता है, उसमें संयम से (अर्थात् अभ्यास द्वारा परख और साक्षात्कार प्राप्त करने से कि कौन कौन कर्म शीघ्र वा देर में कैसा २ फल देने वाले हैं ऐसा जानने से) और सूचन करने वाले चिन्हों से भी, अपरान्त—ज्ञान, यानी मरण का ज्ञान हो जाता है॥

टीकाः—अपने करणोंके छिद्रों को रोक कर सुनने से शरीर के भीतर का शब्द (जसको अनाहत शब्द कहते हैं सो) न सुनाई पड़े अथवा नेत्र मूंदने से कुछ भी ज्योति मात्र न दिखाई दे अथवा अकस्मात् मृत पितरों को देखे अथवा अकस्मात स्वर्ग को देखे अथवा सिद्धों कों देखे अथवा सब विपरीत देखे तो जानना चाहिये कि मरण समीप है॥ २२॥

मूलः-मैत्र्यादिषु बलानि॥ २३॥

अर्थः—मैत्री करुणा मुदिता इन तीनों में धारणा ध्यान समाधि के दृढ़ अभ्यास द्वारा संयम सिद्ध करने से, बल प्राप्त होते हैं॥ (यह प्रत्यक्ष है कि जो पुरुष सुखियों के सुख को अपने ही समझेगा राग द्वेष ईर्षा मत्सर आदि दोषों की निवृत्ति होने से वह सुखी जन भी उससे सहानुभूति और उसके साथ आदर सन्मान का पालन करेंगे, पुण्यवानों से मुदिता रखने से असूया दंभ गर्वादिक दोषों की अपने में से निवृत्ति होगी अपने पुण्यों की भी वृद्धी होगी अपना पुण्यात्मा होने में उत्साह बढ़ेगा, पुण्यवानों का उत्साह बढ़ेगा और उनकी अपने साथ सहानुभूति रहने से अपना बल बढ़ेगा॥ दीन दुखियों पर करुणा करने से अपने में से अभिमान स्वोत्कृष्टता की संभावना इत्यादिक दोष निवृत्त होंगे और दीन दुखियों के आशीर्वाद प्राप्त होंगे जिससे उत्साह बल वीर्य की वृद्धि होगी॥ इस लिये बलों

की वृद्धि अवश्य सम्पादन करने के वास्ते प्रत्येक स्त्री पुरुष युवा वृद्ध को इन तीनों गुणों में संयम करना योग्य है ॥ २३ ॥

मूलः—बलेषु हस्ति बलादीनि ॥ २४ ॥

अर्थः—हस्ति गरुड़ादि बलों में संयम से, हस्ति आदिक के बल प्राप्त होते हैं ॥ (सैन्डो राममूर्त्ति आदिकों ने संयम किया कि मोटरादिक को रोकने का सामर्थ्य प्राप्त करेंगे, उस संयम के द्वारा लोहे की बड़ी सङ्कलों के तोड़ने की शक्ति, हस्ती का पांव छाती पर रखने की शक्ति, छाती पर बड़ी शिलाओं को तुड़वाने की शक्ति, मोटर अञ्जन के वेग को रोकने की शक्ति इत्यादिक प्राप्त हुई और लोगों को द्रव्य लेकर दिखाई गहे और दिखाई जाती हैं ॥ इसमें कोई आश्चर्य नहीं रहा)।२४।

मूलः—प्रवृत्यालोक न्यासात् सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्टज्ञानम् २५.

अर्थः—अभ्यास में जो प्रवृत्ति उससे, साक्षात्कार द्वारा आलोक जो प्रकाश यानी ज्ञानानुभव है उसके प्रक्षेप से, अर्थात् पड़ने से यानी परिक्षा और अनुभव से, सूक्ष्म दूर और नेड़े के विषयों का ज्ञान हो जाता है ॥ (प्रत्यक्ष बात है कि भौतिक पृथ्वी आदि और अध्यात्मिक चित्तादिक तथा अधिदैविक विद्यु त आकाशादिक विषयों में पुनः पुनः विचार से, मन्त्रों द्वारा और विषय के परमाणुओं की शक्तियों के बोध से, उनके भिन्न २ प्रयोगों द्वारा उनके उत्तम उपयोग से लाभ, और दुरुपयोग से हानि को जान कर, सूक्ष्म नेडे और दूर के विषयों के ज्ञान को आधुनिक भूत भौतिक विज्ञानी प्राप्त करते हैं ॥ वे लोग साइन्स के डाक्टर अर्थात् भौतिक विज्ञान के आचार्य कहलाते हैं ॥ मध्य काल में लुप्त हुई हुई विद्या का अब यूरूप वालों के उद्योग से आविष्कार हो रहा हैं ॥ २५ ॥

मूलः—भुवन ज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

अर्थः—सूर्य में संयम से सप्त लोक का ज्ञान हो जाता है ॥ (पाश्चात्य विद्वान विचाराभ्यास से सूर्य की शक्तियों के गुण प्रभाव के ज्ञाता होकर अन्य चन्द्रलोक मङ्गल आदिक के लोकों की खोज करते हैं

और आशा करते हैं कि वहां के समाचार ज्ञात होने के लिये वहां के लोगों से संसर्ग की रीतियां प्राप्त की जायेंगी। ध्रुव की तो यात्रा विज्ञानियों ने वायु यानों द्वारा कर ही ली है) ॥ २६ ॥

मूल:—चन्द्रे तारा व्यूह ज्ञानं ॥ २७ ॥

अर्थ:—चन्द्र में संयम से, तारागण के चक्र का ज्ञान होता है ॥२७॥

मूल:—ध्रुवे तद्गति ज्ञानम् ॥ २८ ॥

अर्थ:—ध्रुव में संयम करने से तारों की गति का ज्ञान होता है॥ ध्रुव को साक्षात्कार करके ही पाश्चात्य विद्वान्, जल यानों में रात्री को भी दिशाओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं और जल यात्रा समाप्त करते हैं ॥ Magnetic Compass चुम्बक का दिशा सूचक यन्त्र आविष्कार किया हुआ है ॥ २८ ॥

मूल:—नाभि चक्रे काय व्यूह ज्ञानम् ॥ २९ ॥

अर्थ:—नाभि चक्र में संयम करने से, काय व्यूह (चक्र) का ज्ञान होता है ॥ (नाभि में मांस ग्रन्थी पिंडाकार है जिसको नाभी कमल कहते हैं वह सम्पूर्ण नाड़ियों का केन्द्र है यानी वहां सब के मुख मिलते हैं और वे शिर में भी मिलते हैं ॥ नाभि में संयम से चित्त एकाग्र सूक्ष्म हो कर, अन्य नाड़ियों के समुदाय के स्थान जो गुदा मेंढके चक्र, हृदय कमल, भ्रुवों में आज्ञा चक्र, मस्तिष्क में सहस्र दल कमल चक्र इत्यादिक हैं उनका अनुभव होता है। और नाड़ियों के मुख जो रोम चर्म तक मिलते हैं उन सब की क्रिया का ज्ञान हो जाता है जिससे अपने पर के रोगों की चिकित्सा में सुगमता होती है ॥ मृतक शरीर को चीर कर अध्ययन करने से डाक्टर इस ज्ञान को प्राप्त करते हैं ॥२९॥

मूल:—कण्ठ कूपे क्षुत्पिपासा निवृत्ति: ॥ ३० ॥

अर्थ:—गले की हँसली के मध्य के गढ़े में ठोडी लगा कर आसन पर बैठ कर संयम करने से चित्त एकाग्र होकर भूख की और मुख के जल के स्राव से प्यास की निवृत्ति हो जाती है ॥ ३० ॥

मूल:—कूर्मे नाड़ियां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

अर्थ:—छाती में एक कूर्म नाम की नाड़ी होती है, उसमें संयम करने से स्थिरता हो जाती है। गर्दन नीचे करके ध्यान में बैठने से

चित्त स्थिर हो जाना स्वाभाविक है ॥ ३१ ॥

मूलः—मूर्द्धं ज्योतिषि सिद्ध दर्शनम् ॥ ३२ ॥

अर्थः—ब्रह्म रंधर में, जहां शिर में गढा सा बालकों के दृष्ट आता है उसमें ज्योति की भावना से संयम द्वारा सिद्धों का दर्शन होता है ॥ (अभ्यासी इन संस्कारों को रख कर बैठता है कि मुझ को सिद्धों के दर्शन होंगे, तो अवश्य कुछ न कुछ आकार दृष्ट गोचर होंगे अथवा भावना की दृढ़ता से, अन्य नवीन जनों में सिद्धों के दर्शन होसकते हैं जैसे देवता प्रेत पितर आदिक मनुष्यकार होकर उसकी इच्छा पूर्ति की सामग्री प्राप्त कर देते हैं अथवा कोई स्वर्गादिक का प्रलोभ देवें अथवा कार्य करदें, परन्तु विशेषतः अभ्यासी अपने ही भ्रम से मोहित हुए देखे जाते हैं) ॥ ३२ ॥

मूलः—प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

अर्थः—अथवा तारक दिव्य सात्विभाव वा तारक मन्त्र अर्थात् ओंकार में संयम से अर्थात् धारणा ध्यान समाधि द्वारा ॐ के लक्ष्यार्थ परमात्मा के साक्षात्कार करने से, सब का ज्ञान हो जाता है ॥ यह बात ज्ञानियों की अनुभव सिद्ध है और छान्दोग्य उपनिषद में तथा अन्यत्र भी एक के ज्ञान से सब के ज्ञान होने की प्रतिज्ञा है क्योंकि माण्डूक्यो-पनिषद में यह प्रथम मन्त्र है "ओमित्येतदक्षरमिदंसर्वम्..........." अर्थात् यह सब, ओ३म् इस एक अक्षर रूप है......इत्यादिक ॥ ३३ ॥

मूलः—हृदये चित्त संवित् ॥ ३४ ॥

अर्थः—हृदय कमल में संयम करने से चित्त का साक्षात्कार होता है ॥ चित्त की वृत्तियों पर दृष्टि दृढ रखते रखते मनुष्य अपने चित्त को जान जाता है यह प्रत्यक्ष है ॥ ३४ ॥

मूलः—सत्व पुरुषयो रत्यन्ता संकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्, स्वार्थसंयमात् पुरुष ज्ञानं ॥ ३५ ॥

अर्थः—अत्यन्त भिन्न भिन्न अन्तः करण और पुरुष के प्रत्यय की एकता अर्थात् अभेद—ज्ञान भोग है, पुरुष के अर्थ होने से।

(भोग पुरुष के ही अर्थ हैं मैं पुरुष पृथक द्रष्टा हूँ) ऐसे स्वार्थ में संयम से, प्रत्यय में स्वार्थता का साक्षात्कार होने से (अर्थात् मैं इस भोग का और बुद्धि का द्रष्टा हूँ ज्ञाता हूँ ऐसे अनुभव होने से) पुरुष के स्वरूप का ज्ञान होता है ॥ "विज्ञातारमरे केन विजानीयात् विज्ञातारमरे केन विजानियात" यह बृहदारण्यक उपनिषद की श्रुति हैं, अर्थात् जिस एक से सब को जानता हैं, उस विज्ञाता को किस ज्ञाता से जाने किस उपाय से जाने, यानो, वह अन्य ज्ञान का अविषय स्वयं प्रकाश आत्मा पुरुष है ॥ ३५ ॥

मूलः—ततः प्रातिभ श्रावण वेंदनादर्शा स्वादवार्त्ता जायन्त ॥३६॥

अर्थः—पुरुष के साक्षात्कार से, दिव्य मन, दिव्य श्रोत्र, दिव्य त्वचा, दिव्य चक्षु, दिव्य रसना दिव्य गन्ध उत्पन्न होते हैं ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि जब सर्व इन्द्रियों से प्रकाश उदय हो यानी उनसे यथावत ज्ञान होता हो तो समझना सत्व की वृद्धि हुई ॥ सत्व से ज्ञान होता है) ॥ ३६ ॥

मूलः—ते समाधावुपसर्गा व्यत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

अर्थः—वे दिव्यमनादिक, मोक्ष वाली समाधी में विघ्न हैं और उत्थान काल में सिद्धियां होती हैं ॥ यही पूर्व ३१ के सूत्र में कहा है।३७।

मूलः= बन्ध कारण शैथिल्यात् प्रचार संवेदनाच्च चित्तस्य पर शरीरावेशः ॥ ३८ ॥

अर्थः—बन्ध के कारण जो धर्माधर्म हैं उनके शिथिल यानी न्यून होने से, चित्त के विचरने के मार्ग वाली नाड़ियों के साक्षात्कार होने से, स्वचित्त का पर शरीर में प्रवेश हो जाता है ॥ (आत्मा परिपूर्ण अधिष्ठान रूप वहां भी प्रथम से ही विद्यमान है इस लिए आवेश प्रवेश सम्भव है जैसे देवता वा प्रेत का आवेश प्रवेश होता है तद्वत् जान लेना, परन्तु ढौंग रचना और भ्रम जाल बहुधा सम्भव हो जाता है इसी के पूर्व, सूत्र १६ देखिये ॥ ३८ ॥

मूलः—उदान जयाज्जलपङ्क कण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च ३९

अर्थः—उदान वायु में संयम द्वारा उसके जय से, जल कीचड़ कण्टक आदिकों में असंग हो जाता है, वे उपद्रव इसको दुःख नहीं दे सकते स्पर्श नहीं करते और उसका ऊर्ध्वगमन अर्थात् ऊपर ही ऊपर गमन होता है ।। (शरीर की वायु वाह्य कुम्भक वा रेचक द्वारा अत्यन्त हलकी होने से शरीर का आसन ऊपर को उठने को हो जाता है यह सब किसी को अनुभव में आसकता है इसी प्रकार संपूर्ण शरीर के वायू को निकाल कर भीतर के आकाश को कुछ वायू रहित करने से शरीर का ऊपर उठना संभव है जैसे वायू यान और आकाश में उड़ने वाले गोले का होता है जिसके सहारे से भौतिक विज्ञान वाले उड़ते हैं तद्वत् जान लेना) ।। ३६ ।।

मूलः—समान जयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

अर्थः—समान वायू को संयम द्वारा जीतने से शरीर का स्वेच्छा से ज्वलन हो जाता है ।। शरीर में पूरित संपूर्ण वायू के संघर्ष से अत्यन्त गर्मी उत्पन्न होने से अभ्यासी अत्यन्त ताप के वश जलता है ।। इसमें सती का उदाहरण वा वियोगी, स्नेही का दृष्टान्त उचित है ।।४०।।

मूलः-श्रोत्राकाशयोः संवध संयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

अर्थः श्रोत्र और आकाश के सम्वन्ध में संयम से (अर्थात् एकाग्रता प्राप्त करने से) दिव्य श्रोत्र हो जाते हैं ।। (श्रवण की शक्ति बढ़ जाती है सूक्ष्म से सूक्ष्म शव्द दूर तक का सुनाई पड़ने लगता है स्वरों का ज्ञान हो जाता है ।। शारङ्ग वीणा आदिक के जो स्वर हैं उनको शीघ्र सीखने की क्षमता प्राप्त हो जाती है परन्तु वैसी सामग्री यन्त्रादिक का आविष्कार और प्राप्ती का संयोग भी अवश्य संपादन करना पड़ता है ।। जैसे तार, टेलीफ़ोन, ग्रामोफ़ोन इत्यादिक यन्त्रों का उपयोग है तद्वत् अन्यत्र भी जान लेना ।। ४१ ।।

मूलः—कायाकाशयोः संवध संयमाल्लघु तूलसमापत्तेश्चाकाश गमनम् ॥ ४२ ॥

अर्थः—काया और आकाश के संवंध में संयम से और लघु

तूल रूई (या आकाश में उड़ते हुए परमाणु के विचार से) उनमें संयम से आकाश गमन होता है (जैसे गुब्बारा वायु यानादि, देखो सूत्र ३८ की व्याख्या) ॥ ४२ ॥

मूल:—वहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशा वरण क्षयः ॥ ४३ ॥

अर्थः—शरीर से बाहर, कल्पना रहित हुई अर्थात् स्थिर की हुई वृत्ति, महा विदेहा धारणा हैं, उससे वुद्धि सत्व के अर्थात् ज्ञान के ढकने वाले तमोगुण का नाश होता है ॥ (तात्पर्य यह है कि शरीर से बाहर किसी चमकदार काली विन्दु पर या काले पत्थर वाले अंगूठी के नग पर अथवा चमकदार चुम्बक मणि पर, त्राटक का अभ्यास दृढ़ करने से निद्रा का और आलस्य का नाश होता है तथा ज्ञान इन्द्रियों की शक्ति प्रतिभाशाली हो जाती है) ॥ ४३ ॥

मूलः- स्थूल स्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्व संयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

अर्थः—स्थूल (अर्थात् पंच भूतों के शब्दादि स्थूल विशेषण में) स्वरूप (अर्थात् पांचों भूतों के स्वरूप-सामान्य जैसे आकाश की व्यापकतामें, अग्नि की उष्णता में) सूक्ष्म (अर्थात् ५ तन्मात्रा शब्दा-दि विषय में) अन्वय (अर्थात् उनके सम्वन्ध में) अर्थवत्व (यानी उनके उपयोग और सार्थकता में) संयम से (पूर्ण गवेषणा से observation and experiment से) भूतों का जय होता है ॥ यही सम्पूर्ण साइन्स यानी पाश्चात्य भौतिक विज्ञान का विषय है जिससे यूरुप महान शक्ति शाली हो रहा हैं) ॥ ४४ ॥

मूलः—ततो अणिमादि प्रादुर्भावः काय संपत् तद्धर्मान-भिघातश्च ॥ ४५ ॥

अर्थः—भूत जय से अणिमादि का प्रादुर्भाव होता है काय सम्पत होता है अर्थात् शरीर के अन्तर्द्धान की शक्ति आदि का उदय होता है दिव्य मन इन्द्रिय होते हैं और भूतों के धर्मों से अभिघात अर्थात् पीड़ित नहीं होता ॥ (आज कल वैज्ञानिक आविष्कार वाले

आकाश में अप्रतिहत वेग से उड़ते हैं, वायु के वेग से रुकावट नहीं पाते, वायु गैस (gases) से कार्य लेते हैं जैसे Hydrogen Carbonic acid gases etc. हाइड्रोजन आदि से काम लिया जाता है। अग्नि से जल से इन के सम्बन्ध से अञ्जन चलते हैं, विजली उत्पन्न होती हैं, बिना तार के समाचार पहुंचाये जाते हैं पानी में जल मग्न यानी नौकायें डूबी रहती हैं, अग्नि अस्त्रों से काम लिया जाता है प्रकाश का कार्य लिया जाता है बड़ो बड़ी शक्ति शाली शिल्प के कार्य होते हैं और सब भूतों के विघ्नों के उपाय साथ साथ हैं यह सब विज्ञान के आविष्कार हैं) ॥ ४५ ॥

मूलः-रूप लावण्य वल वज्र संहननत्वानि काय सम्पत् ॥ ४६ ॥

अर्थः—दिव्य रूप, सान्दर्य, बल बजूवत् दृढ़ अङ्गता होनी यह सब काय सम्पत है ॥ (यूरुप जापान अमरीका वालों का रूप सौन्दर्य, बल (दीर्घ आयुष) शरीर की पुष्टि स्पष्ट देखने में आरही है ॥ राज के आश्रित विज्ञान के आविष्कारों से सब कृषिक तथा वणिक विदेशों में सुखी हैं, विना राज्य की पूर्ण सहायता के भारत दरिद्रता और दुःखों का केन्द्र, सब से निर्बल, रोगी और दुखी है वहुधा जनता दुर्बल, बुद्धि हीन हो रही है भूखों मर रही है, और बच्चों की मृत्यु सर्व देशों से अधिक है) ॥ ४६ ॥

मूलः—ग्रहण स्वरूपा स्मिता न्वयार्थवत्व संयमा दिन्द्रिय जयः ॥ ४७ ॥

अर्थः—ग्रहण अर्थात् इन्द्रियों की वृत्ति, स्वरूप अर्थात उन के सामान्य व्यापार अस्मिता अर्थात अहंकार, अन्वय अर्थात सत्वादि गुणों से सम्बन्ध और अर्थत्व अर्थात् भोगापवर्ग के वास्ते सप्रयोजनता, इन सब में, संयम से, इन्द्रियों का जय होता है ॥ आत्मिक बल के लिए यह आत्म संयम योग सब विवेकियों को प्रसिद्ध है ॥ ४७ ॥

मूल—ततो मनो जवित्वं विकरणभावः प्रधान जयश्च ॥ ४८ ॥

अर्थः—इन्द्रिय जय से. मन के समान वेग, इन्द्रियों का

अप्रतिवद्ध शक्ति लाभ, और प्रधान का जय होता है ॥ (अर्थात प्रकृति जन्य विघ्न बाधाओ से रहित रहता है)॥ यहां तक गृहस्थ सकाम योगी के लिये विभूतियों और उनकी प्राप्ति के उपायों को कहा अब निष्काम योगी के लिये कैवल्य पद प्राप्ति के वास्ते उसी संयम के उपयोग को कहते हैं ॥ ४८ ॥

मूलः—सत्व पुरुपान्यता ख्याति मात्रस्य सर्व भावाधि ष्ठातृत्वं सर्व ज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

अर्थः—सत्व जो बुद्धि उसके और पुरुष के विवेक से पृथक पुरुष और दृश्य के साक्षात्कार मात्र वाले योगी को (मात्र शब्द से निष्कामता ग्रहण करना) सर्व भावों की स्वामिता और सर्वज्ञता प्राप्त होती है ॥ पुरुष सदा सत्व से यानी बुद्धि दृश्य वा प्रधान और उस के कार्य संसार से भिन्न है। पुरुष सत्य है, असङ्ग है, शुद्ध है निर्विकार है अलिप्त है और सदा स्वरूप में स्थित है, उस से इतर दृश्य कल्पित अनात्मा अविद्या और उसका कार्य पुरुष के लिये था अब मुमुक्षु पुरुष को उसकी आवश्यकता नहीं है इस लिये पर वैराग से त्याज्य है निरुद्ध करने योग्य है प्रशान्त वाही संस्कार मात्र से विलीन करने योग्य है ॥ ऐसा साक्षात्कार होने से पुरुष आप अपनी सम्पूर्ण अविद्या और उस के कार्य दृश्य का बाध करके उस को विपर्यय मात्र समझ कर अपनी कल्पना और विकल्पों का आप अधिष्टान रहता है और सर्व दृश्य को अनात्मा दुःख हेय अशुचि असत्य जान कर निरोध करके शेष आप सर्व का अधिष्टान स्वरूप चिति शक्ति वा पुरुष अपने स्वरूप को केवल यानी निर्द्वंद्व समझता है यह ही सर्वज्ञता है ॥ ४९ ॥

मूलः—तद्वैराग्यादपि दोप वीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

अर्थः—उस सर्व के स्वामित्व और सर्वज्ञता में भी वैराग से (कि मुझे इस चिन्तन की भी क्या आवश्यकता है केवल चिति है सो है) दोष के बीज (अविद्या यानी वासना वा संस्कार) का क्षय होने से कवल्य प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

टीका:-पुरुष का सत्वादिगुणों से आत्यन्तिक वियोग होना कैवल्य है, तब चिति शक्ति पुरुष ही स्वरुप में स्थित है ॥ (यह बात विचार करने योग्य है कि यदि पुरुष से इतर कल्पना दृश्य बुद्धि वा प्रधान गुणादि अथवा उनका संयोग सत्य हो तो अकारण ही आत्मा की असंगता शुद्धता मानना होगी इतना जानलेने मात्र से किसी का कैवल्य नहीं होगा क्योंकि सम्बन्ध छूटता नहीं दिखाई देता ॥ यदि आत्मा पुरुष स्वरूप से केवल है और अकैवल्य आगुन्तुक अविद्या जन्य है तब विवेक से अकैवल्य अर्थात् दृश्य और कल्पित संयोग सम्बंध को मिथ्या असत्य जानने से, शेष पुरुष, कैवल्य भाव को ही प्राप्त होगा, ॥ विपर्यय ज्ञान वासना से नामरूप आकार नानत्व और भोगादिक दृश्य दृष्ट आते थे अब अविद्या रहित चिति शक्ति और शक्ति का चमत्कारिक विस्तार विचार गोचर होने से आपही पुरुष चिति है यही कैवल्य है) ॥ ५० ॥

मूल:—स्थान्युपमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्ट प्रसंगात् ॥ ५१ ॥

अर्थ:—स्थानि अर्थात् देवताओं के निमन्त्रण से आसक्ति और गर्व नहीं करना, क्योंकि पुन: अनिष्ट का प्रसंग होगा ॥ अभ्यास छूट जावेगा चित्त बहिर्मुख हो जावेगा यह अनिष्ट है ॥ (मान पूजा प्रतिष्ठा विभूति पूर्वक सती सेवक आदि के रूप में ही देवता इसका पतन कराते हैं ॥ सकाम पुरुष सदा लाभ वश दुखी होता है इस लिये निष्काम रहना उचित है मूढता से अहंकार के वश होना उचित नहीं है यह समाधि में विघ्न है)

टीका:—देवताओं के लौकिक जनता के रूप में अथवा सती सेवकों के रूप में सन्मान पूजा विभूति अर्पण द्वारा आकर्षण करने पर, सावधान होकर अहंकार गर्वादि को त्याग कर मुमुक्षु योगी ने यह विचार करना चाहिये :-

प्यारे, संसार रूपी अंगारों में पकते हुये, जन्म मरण अन्धकार में भटकते हुए, मुझ योगीने किसी प्रकार ईश्वरानुग्रह से क्लेश और

अविद्या अन्धकार को नाश करने वाला योग का दीपक जलाया है ॥ उस ज्ञान प्रकाश वाले योग रूपी दीपक के यह त्रष्णा—मूलक विषय-पदार्थ विरोधी हैं यानी इसको बुझाने वाले हैं, सो भला मैं जो विवेक ज्ञान प्रकाश को प्राप्त हुवा योगी हूँ मुझे इन से क्या ? मैं क्यों इन त्रष्णा वाले विषय भोगों से ठगा जाऊं ? ॥ हे देवता गणो सिद्धगणो ! आप का कल्याण हो, यह स्वप्न के सदृश मिथ्या भोग कृपण जनों से प्रार्थनीय और उन दीन कृपण जनों को प्राप्त होने वाले विषय, आप ही के पास रहें, इस प्रकार निश्चित मति होकर समाधि में ही भावना युक्त हो रहे, उन में राग करके गर्वादिक न करे ॥ (अब देखिये यदि वें देवता केवल इसके कल्पना या भावना का ही कार्य न होते तो इसके चित्त में कहां से आते, बस ऐसी ही प्रतिभासिक सत्ता योग के भाष्यकार व्यास भगवान को दृष्य में इष्ट है)। योग का मत वेद मत के अनुसार लगाना योग्य हैं भ्रम में न पड़ना चाहिए अन्यथा, शास्त्र अप्रमाणिक हो जावेगा ॥ ५१ ॥

मूलः—क्षण तत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ः ॥ ५२ ॥

अर्थः—क्षण और क्षण के क्रम में संयम से विवेकज ज्ञान अर्थात तारक ज्ञान होना है ॥ क्षण क्षण सावधानता पूर्वक वृत्ति वृत्ति का साक्षी अपने स्वरूप पुरुष को जानते हुये (विपर्यय रूप साद्य के निरोध पूर्वक) विवेक जन्य आत्म ज्ञान होता है यह भाव है) ॥ ५२ ॥

मलः—जाति लक्षण देशैरन्यता नवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

अर्थः—जाति से, लक्षण से; देश से, एकी हुये हुये पदार्थों के भेद का निश्चय न होने से, उस विवेक ज्ञान से, उनके भेद का निश्चय हो जाता है ॥ (विवेक जन्य ज्ञान से यह निश्चय होना आवश्यक ही है कि बुद्धि दृष्य का दृष्टा पुरुप चिति शक्ति नित्य असंग कूटस्थ है, बुद्धि दृष्य विपर्यय रूप है वह ही कैवल्य है) ॥ ५३ ॥

मूलः—तारकं सर्व विषयं सर्वथा विषयमंक्रमंचेचि विवेकजं

ज्ञानं ॥ ५४ ॥

अर्थः—तारक ज्ञान अर्थात् चिति शक्ति पुरुष का स्वरूप कैवल्य ज्ञान, सर्व को विषय करने वाला (अर्थात् सब का स्वामी वस्तुतः असंग) सर्व प्रकार से विषयों को जानने वाला (अर्थात् विपर्यय विकल्प रूप दृश्य का दृष्टा) और अक्रम अर्थात् एक क्षण में सब का ग्रहण करने वाला (अर्थात् सर्व भेद विनिर्मुक्त सब रूप में एक असँग पुरुष हूँ ऐसे, जानने वाला) होता है यह विवेकज ज्ञान है।

टीका:—तारक का अर्थ है स्वयं प्रकाश ज्ञान जो किसी के उपदेश कथन का विषय नहीं है (अर्थात् पुरुष का स्वरूप ज्ञान) ॥५४॥

मूल:—सत्व पुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यम् ॥ ५५ ॥

अर्थः—सत्व अर्थात् बुद्धि और पुरुष की यानी दोनों की शुद्धि समता के होने से कैवल्य ज्ञान होता है ॥ (विचार से आविद्यक भेद दृश्य की कल्पना के निवृत्ति होने से, बुद्धि का बाध होकर असद् भाव निश्चय होकर उसकी दृष्टा चिति में एकता होती है क्योंकि चिति से इतर कुछ रहा हो नहीं, अशुद्धि रूप विपर्यय की निवृत्ति अधिष्ठान चिद् रूपही है यही शुद्धि साम्य है ॥ एक अद्वैत सत् ही था इस श्रुति उपदिष्ट ज्ञान से द्वैत कार्य का वाणी का आरंभ नाम मात्र सिद्ध होने से, सब सत्ता मात्र एक अद्वैत सत ही था है और रहेगा यह निश्चय शुद्धि साम्य ही है ऐसा ज्ञातव्य है यह छान्दोग्य उपनिषद में निर्णय किया है)

टीका:—जब रज तम मल से रहित बुद्धि, पुरुष के साथ, अभेद ज्ञान के अधिकार को प्राप्त होकर, क्लेश बीज की दग्धता होती है तब पुरुष के आगुन्तुक कल्पना रूप भोगों का अभाव हो जाता है यही शुद्धि है, इसी अवस्था में कैवल्य होता है ॥ ईश्वर रूप हो अथवा अनीश्वर हो विवेकज ज्ञान का भागी हो वा दूसरा ही कोई हो जिसके क्लेश के बीज रूप अविद्या दग्ध हो चुकी उसे फिर ज्ञान की अपेक्षा कुछ नहीं रहती है ॥ बुद्धि की शुद्धि द्वारा वह समाधि जन्य ऐश्वर्य, और ज्ञान से अज्ञान निवृत्त हो जाता है उसके निवृत्त होने पर पीछे अविद्यादिक क्लेश नहीं रहते हैं, क्लेश के न रहने से, कर्म फल का अभाव हो